

(लघु उपन्यास)

# क़तरा-दर-क़तरा

-सुषम बेदी

१

जो चीज़ें ज़िंदगी में सब से ज़्यादा तकलीफ़ देह होती हैं, पता नहीं मन क्यों उन्हीं पर जाकर जम जाता है। कितना भी खुद को हटाने की कोशिश करूं--ठीक जैसे खुरंड कुरेदने को बार-बार हाथ घाव वाली जगह पर पहुंच जाता है या पेड़ों पर शहद की मक्खी के छत्ते की तरह उभरा कोई आंखों को खटकने वाला उगाव भीतर कहीं मितलाहट पैदा करता रहता है और आंखें फिर भी हटाये नहीं हटती--वैसे ही इन नासूरों के प्रति खिचाव कभी मेरी समझ में नहीं आ पाया। दर्द उठता रहता है और मैं उसे दबाने के बजाय और उकेरती रहती हूँ। ऐसा ही तो एक नासूर बरसों से भीतर ज़हर की पोटली की तरह लटका हुआ है। ज़हरीली मक्खियां उड़ उड़कर भिनभिनाती हैं, सारी की सारी अंदरनी हस्ती छटपटाती-सिटपटाती हैं फिर भी अंदर की आंख एकटक वहीं देखती रहती है!

इस कहानी की शुरुआत शायद इस तरह नहीं करनी चाहिये मुझे क्योंकि यह शायद सिर्फ़ एक रिसते हुए घाव की ही कहानी नहीं है। क़तरा-दर-क़तरा मिटने की है तो क़तरा-दर-क़तरा बनने की भी। फिर भी यूँ घाव दोनों तरफ़ ही है--एक घाव जो भरने लगा है तो दूसरा जो नासूर बनकर लाईलाज हो जाता है। किसी ने कभी ये नहीं बताया कि किसी को स्वाधीन बनाने की कोशिश भी एक सही और अहम काम हो सकता है, बजाय इसके कि दूसरे को अपने अहसानों के बोझ तले दबा कर इस तरह मार डालो कि वह तो आह भी न भर सके और तुम खुद इस बात को लेकर रोते रहो कि तुमने अपनी ज़िंदगी फालतू में ही बरबाद कर दी, दूसरे को तो मरना ही था तुम यूँ ही घुन की तरह पिसे गये। जबकि सच्चाई यह होती है कि अगले

के काम करकर के हम उसे पूरी तरह से अपने पर निर्भर बना लेते हैं और वह कभी अपना कुछ कर सकने का साहस या आत्मविश्वास ही नहीं जुटा पाता। उसकी रही-सही सामर्थ्य भी हवा हो जाती है। वक्त ने इस अर्से में बहुत कुछ सिखा दिया है मुझे--ये पिछले पच्चीस बरस मैं बनने और मिटने को ही लगातर भोगती रही हूँ।

पर दोनों सिलसिलों में बात एक ही थी। फर्क शायद सिर्फ जगह का था --माहौल का था या शायद मुझमें ही था--या फर्क शायद तकलीफ की शिद्दत, और मेरी समझ की सीमाओं का था। एक उम्र होती है जबकि हर खौफनाक चीज़ अपनी असलियत से भी कहीं ज्यादा भयंकर लगती है जैसे कि जब हम छोटे होते हैं तो कोई ठिगना आदमी भी दानव समान लगता है या कि एक छोटे कैनवस पर एक मध्यम आकार का बिंदु भी बहुत बड़ा लगने लगता है और एक बार खुद बड़े हो जाने पर पहाड़ भी पार करने लायक मालूम देने लगते हैं---पर क्या सच में वह बिंदु छोटा ही था? या कि मैं छोटी थी इसलिये वह बड़ा दीखता था? लेकिन आज जबकि मैं चालीस बरस की हो चुकी हूँ तो वह बिंदु लगातार बढ़ता ही क्यों जा रहा है और इस तरह से मुझे छा लेता है कि मेरा रोयां-रोयां मुक्त होने के लिये चीखने लगता है--मैं समझ ही नहीं पाती कि मेरा दर्द मेरे वर्तमान का है या कि मेरे अतीत का! दर्द तो शायद बस दर्द ही है उसका कोई अतीत या वर्तमान नहीं होता--होता है सिर्फ एक लोहे के बर्तन जैसा कड़ा बोझ या फिर हाथ से दबा कर निचोड़े जाने वाले घाव से रिसरिस कर टपकने वाला खून का बहाव जिसे पर्तियां या मलहम लगाकर रोका नहीं जा सकता क्योंकि रोक लेने से अंदर ज़हर फैलने का खतरा बना रहता है।

अशोक ने मुझसे कहा था--“ ये सिर्फ अब मांस का लोथड़ा है शशि, इससे मोह मत करो” उस वक्त मेरी चीख किसी पहाड़ को भी आरी की मानिंद काट सकती थी --मैं अशोक को कैसे बताऊँ कि उसे मांस का ढेर मान कर मैं खुद मर जाती हूँ। मेरे जिस्म का पोर-पोर बेजान होने लगता है। मैं अपने आप को मरा हुआ कैसे मान लूँ? नहीं, खुद को मारने के लिये मैं अभी तैयार नहीं--इसलिये उसे भी अभी ज़िंदा रखना होगा।

और यह भी तो कि उस कहानी को मुझे फिर से दुहराना नहीं है। जो अतीत मेरे वर्तमान की झोली में आ पड़ा है उसे उतना निरीह बने नहीं रहने दूंगी जितना कि वह अब तक बना रहा है। पता नहीं क्या बदतर या बेहतर है--पैदा होते ही ज़िंदगी को खो देना या कि यौवन की देहरी पर पहुंचते ही उसका गलने-सड़ने लगना। मैं दोनों हालातों से ही लड़ रही हूँ---और दोनों मोर्चों पर--ज़िंदगी खो देने के बाद का और खो देने

के पहले का।

अशोक के मेरे दोनों कंधों पर टिके हाथ भी मुझे सांत्वना नहीं दे पा रहे थे। अपनी आंखों के आंसुओं को पोछे बिना ही कहा था मैंने-“नहीं अशोक यह मेरा बेटा है। मैं पूरी कोशिश करके इसे बचाऊंगी--जो भी कुछ करना पड़े ”

और बार-बार डॉक्टर से वही सवाल पूछे जाते थे--क्या सच में यह कभी नॉर्मल नहीं होगा? और डॉक्टर के बदली-बदली शब्दावली में वही-वही जवाब-"इस तरह के केसेज़ में उम्मीद तो कम ही होती है, बेहतर यही होगा कि आप इसे बच्चों के मानसिक रोगों के अस्पताल में भरती करवा दें--शायद बहुत देर तो जीना नहीं इसे। इसलिये खुद पालकर फालतू में अपना दुख ही बढ़ायेगी आप। यूँ बच्चे को प्यार तो मां से ही मिलता है लेकिन हर मां की अपनी हिम्मत और सहनशक्ति पर भी तो मुनस्सर करता है! इस बच्चे को तो चौबीसों घंटे परवरिश चाहिये। आपकी अपनी ज़िंदगी तो नर्क हो जायेगी--आप इस सब के लिये तैयार हैं? फिर मैं आपको कोई अशोयरेस भी नहीं दे सकता कि आपकी मेहनत सफल होगी--आपको अपने रिस्क पर ही यह सब करना होगा--हां मुझसे जो भी मदद हुई, ज़रूर करूंगा।"

पता नहीं डॉक्टर के रोकने के बावजूद भी अंशु को घर पर रखने की अजीब सी एक अंदरूनी मजबूरी थी मेरी। कक्कू के वह वाक्य कान में सीसे की तरह घुलने लगते थे-

“दीदी, मुझे घर क्यों नहीं आने देते? मैं ठीक तो हूँ दीदी--मुझे घर ले चलो ना।”

मैं पिताजी की ओर एक हल्की उम्मीद भरी आंख उठाती हूँ जो ठंडी सांस भरकर कह देते हैं-“डॉक्टर से बात करके देखता हूँ।” और कहते हुए नाउम्मीदी की बदरंग सी झारियां उनके चेहरे पर फैल जाती हैं।

पिता जी की नाउम्मीदी कक्कू के चेहरे पर एक ज़बरदस्त आक्रोश और विद्रोह का भाव ला देती है--वह पिताजी को ही अपने घर न आ पाने के लिये दोषी ठहराने लगता है। लेकिन उसे मुझ पर अभी भी भरोसा है और वह गिड़गिड़ाकर मेरी ओर देखकर दुबारा कहता है--“क्या मैं तुम्हें इन दूसरे पागलों की तरह दीखता हूँ दीदी? पिताजी से कहो न मुझे घर ले चले” मेरी आंखे भरने लगती हैं और मैं उन्हें ज़मीन की ओर टिकाये कह देती हूँ “मैं आज घर जाकर पिताजी को मना लूंगी--कल-परसों तक तू ज़रूर घर आ जायेगा”

कक्कू कुछ बुड़बुड़ाता है जो मैं समझ नहीं पाती। मेरे भीतर की दुनिया सिहर उठती है--ये मेरा वही छोटा भाई है जिसके साथ मेरे बचपन का, मेरी अब तक की ज़िन्दगी का हर अहम पल गुज़रा है? क्या मैं अभी भी इसे उतना ही जानती हूँ जितना कि पहले जानती थी? क्या ये वही है जो पहले था या कि लोगों के कहने से मैं भी इसे

वही मानने लगी हूं जो कि इसका सच नहीं है। क्या इन डाक्टरों को सच में पता है कि कक्कू को क्या हुआ है--कि उसको कुछ हुआ भी है? अगर कक्कू की कोई बात पिताजी या मेरी समझ में न आये तो क्या सिर्फ़ डाक्टर ही उस बात को समझा सकते हैं? और जिस तरह डाक्टर सबको एक ही थैली के च००००००fi-बfi मानकर देखते हैं, उनमें क्या कक्कू भी कहीं बेवजह तो नहीं पिस रहा। कक्कू की वह गिड़गिड़ाती निरीह सी नज़र पता नहीं क्यों रात-रात मुझे जगा कर कहती थी कि उसे कुछ नहीं हुआ--बस एक बार डाक्टरों के चंगुल में पड़कर हम ही निरीह और बेबस हो गये हैं। क्या होती है वह बेबसी? न अपने पर विश्वास, न दूसरों का भरोसा। फिर भी मन भरोसा करने को उतावला--हर तिनके को आंख से उठाने को आकुल। और फिर मृगछाया जैसा भ्रमभास होते ही निराशा के सूखे रेतीले समुद्र में हाथ पैर पटकना।

पर कुछ तो ऐसा था जो कक्कू में बदला था। बहुत देर तक तो किसी को कुछ पता ही नहीं लगा कि कुछ बदल रहा है। मैं ही थी जिसने सबसे पहले कुछ फ़र्क महसूस किया था या फिर पिताजी ने। मां ने किया होगा तो किसी पर प्रगट न होने दिया। लेकिन जो फ़र्क पिताजी ने महसूस किया उसे मैं फ़र्क नहीं मानती--और अगर वह फ़र्क है तो इंसान में उम्र के साथ आने वाला विकास का एक सहज पड़ाव है। पिताजी की पवित्रतावादी नज़रों में चाहे वो घनघोर पाप भी रहा हो, मेरे लिये वो ज़िन्दगी की सहजता का ही एक उपक्रम था। लेकिन कुछ और बदलाव भी थे जिन्हें कभी मेरा मन किसी बहुत कल्पनाशील इंसान की फ़ैन्टसी की उड़ान भर भी मान सकता है लेकिन उन उड़ानों की असंभाव्यता--पता नहीं उसे क्या कहना चाहिये? जो कुछ कहा गया, उसे सोच कर तो मन दहल जाता है।

मुझे लगता था कि मैं कक्कू को सबसे ज़्यादा करीब से जानती हूं। आख़िर उसका - मेरा पल-पल का साथ था। छह भाई-बहनों के परिवार में वह सबसे छोटा था और मैं उससे कुल दो साल बड़ी। मुझ से बड़ी बहन और मुझमें साढ़े चार साल का फ़र्क था। इसलिये उससे हमउम्रों वाली दोस्ती नहीं थी। कक्कू और मैं दिन भर साथ खेलते, खाते और लड़ते। हम दोनों की इतनी होड़ रहती कि लगातार एक दूसरे की कार्रवाहियों पर बाकायदा ध्यान बना रहता और ज्यों ही हममें से एक दूसरे को कुछ ग़लत करते देख लेता तो फ़ौरन शिकायत अदालत तक पहुंचा दी जाती। अदालतें भी यूं तो कई थीं--सबसे बड़ी दीदी की अदालत, मां की अदालत, और सुप्रीम कोर्ट था पिताजी की अदालत। मेरी तो बस सुप्रीम कोर्ट में ही सुनी जाती थी पर उसके न्यायधीश का इंतज़ार करने तक या तो झगड़ा ख़त्म हो चुका होता था या अपराधी ही सज़ा सुनने को पास मौजूद नहीं होता था। मेरी एकतरफ़ा सुनवाई के बाद पिताजी

मेरी पीठ थपथपा देते, मुझे “बहुत अच्छी लड़की का” खिताब दे देते और मैं यह सोच कर तसल्ली पा जाती कि सही जगह मेरी आवाज़ पहुंच गयी है तो फ़ैसला भी एक तरह से मेरे ही हक़ में हुआ है। दीदी और मां की अदालत में तो मुझे को डांट पड़ जाती। शायद मैं बड़ी थी इसलिये या कक्कू ही सबको बड़ा प्यारा लगा करता था। उसके तपे हुए गेहुंए रंग और चौड़े माथे वाले चेहरे पर टंकी घनी और गहरी आंखें और पतली-नुकीली नाक उसे बेहद आकर्षक बना देते थे। मुस्कुराते समय बांयें गाल पर पड़ने वाला गढ़ा चेहरे पर एक कोमल सी मिठास ला देता था। शायद इसीलिये सबको उस पर बिन बात प्यार आ जाता था। सब कहते थे बड़ा होकर लेडी-क्विलर बनेगा वह। मुझे ऐसा सुन कर कभी गर्व होता तो कभी ईर्ष्या।

इनमें से जब कोई आसपास नहीं रहता तो फ़ैसला होता जंग के मैदान में। सारा घर लड़ाई का मैदान बन जाता। एक कमरे से दूसरे कमरे तक, पलंगों के नीचे से सोफों के पीछे तक। एक दूसरे का पीछा करते हुए हम सारा घर तहस नहस कर डालते। कक्कू पूरे ज़ोर के साथ मेरे बाल खींचता और मैं अपने शौकिया बढ़ाये नाखूनों से उसके चेहरे और बदन पर कितने ही रेखाचित्र बना डालती। जंग तब तक जमी रहती जब तक कि मैं ही हार कर रोने न लगती और कक्कू मुझे रोता छोड़ कर भाग जाता। इस लड़ाई में वह कभी नहीं हारता था क्योंकि छोटे होने की वजह से और लड़का होने की वजह से तरफ़दारी भी ज़्यादा उसी की होती थी और उसके पास ज़ोर भी मुझसे ज़्यादा था।

सबसे ज़्यादा झगड़े गर्मी की छुट्टियों में होते जबकि मैं और कक्कू सारा दिन घर पर रहते। गर्मियों में ज़्यादातर हम नानी के यहां जाया करते थे। वहां पिताजी की अदालत की जगह नानी की अदालत ले लेती। यह अदालत तो दिन भर खुली रहती थी इसलिये मुझे बहुत मज़ा आता। तब मैं मुश्किल से आठ बरस की रही हूंगी और कक्कू छह का। हम लोग दिन भर ताश खेला करते थे --नोट भुनाना और भाबो-- बस ताश के यही दो खेल हमें आते थे। जो भाबो बनता दूसरा उसे हार की याद दिलाता रहता और जो हारता वह कभी भी हार मानने को तैयार न होता। आखिरकार हर खेल लड़ाई में ही ख़त्म होता और मैं रो-रोकर नानी से कक्कू की शिकायत करती। नानी पुचकारती और मेरी और-और हिचकियां बंधने लगती।

हमारी आपसी लड़ाई और होड़ परिवार भर में इतनी बदनाम हो चुकी थी कि एक बार मुझे बेहद शर्मिन्दा होना पड़ा था। बचपन में--करीब नौ बरस की रही हूंगी तब-- मेरे पेट में बहुत दर्द हुआ करता था। एक बार पिताजी ने कहा कि वे मुझे किसी बड़े

डाक्टर को दिखायेंगे क्योंकि आम डाक्टर उसकी कोई वजह नहीं बता पा रहे थे। हमारे शहर जालंधर में कोई स्पेशलिस्ट नहीं था, इसलिये रेलगाड़ी से मां-पिताजी, कक्कू और मैं अमृतसर मेरे इलाज के लिये गये। कक्कू इसलिये कि वह हर जगह मां-पिताजी के साथ जरूर जाता था। एक इस वजह से भी उससे मुझे ईर्ष्या हुआ करती थी लेकिन उसका साथ चलना अब तो खूब भा रहा था। हम दोनों रास्ते भर खूब खेलते रहे थे। वहां डाक बंगले में पहुंचकर हमने खूब उधम मचाया। लेकिन वहां के बैरे हमारी खातिर करते रहे। हम दोनों पहली बार इस तरह छुंफ़ी मनाने निकले थे। हमारी एक बार भी लड़ाई नहीं हुई। न ही वहां कभी मेरा पेट दर्द हुआ। खैर अगली सुबह से डाक्टर का चेकअप शुरू हो गया। खून, टफ़ी, पेशाब, हर तरह के टेस्ट हुए लेकिन कहीं कुछ खराबी नहीं निकली। उल्टे वहां मुझे और कक्कू को इतनी भूख लगती थी कि हम दोनों कई गुना ज्यादा खाना खा जाते थे। डाक बंगले का खानसामा इतनी महीन और नरम चपातियां बनाता था कि मैं दस-दस चपातियां खा जाती थी और पेट को कुछ नहीं होता था। तीन दिन में सारे टेस्ट खत्म हो गये। जब डाक्टर को कुछ नहीं मिला तो उसने मां-पिताजी से मेरा मनोवैज्ञानिक इतिहास पूछना शुरू किया--क्या मुझे किसी तरह का असंतोष तो नहीं है, क्या मैं सामान्यता खुश रहती हूं या कि कुढ़ती-चिढ़ती रहती हूं! मां ने कहना तो शुरू किया कि मैं आम तौर पर खुश रहनेवाली लड़की हूं, फिर जैसे बात की रौ में उन्होंने यह भी लगा दिया कि इसकी अपने भाई से बहुत लड़ाई होती है--दोनों में बड़ी होड़ रहती है।

बस डाक्टर तो इस बात को पकड़ कर ही बैठ गया। उसे शायद मां-पिताजी की तसल्ली के लिये कोई कारण देना ही था। मेरा शारीरिक विकास भी नौ साल की उम्र के हिसाब से बिल्कुल सही था इसलिये किसी बड़ी अंदरूनी बीमारी को खोज पाना भी उसे मुमकिन नहीं दीखा होगा। झट से बोला--“ बस यही बात है। इसे अपने भाई से जब ईर्ष्या होती है तब ये आपका ध्यान आकर्षित करने के लिये पेटदर्द की शिकायत करती है--वर्ना पेटदर्द की और कोई वजह ही नहीं है, आपकी बेटा एकदम दुरस्त है”

वह डाक्टर इंगलैंड-रिटर्नड था। मां-पिताजी उसके इस निदान से बेहद प्रभावित हुए। बस उस दिन के बाद से उन्हें चर्चा का बड़ा दिलचस्प विषय मिल गया था। सारे रिश्तेदारों को डाक्टर की वाहवाही कर-कर के यही बात सुनायी जाती। मेरे मन को बहुत चोट लगती। मुझे लगता जैसे सबके सामने मुझे नंगा किया जा रहा है।

कक्कू को भी मुझे छोड़ने का एक और औज़ार मिल गया था। मुझे उस डाक्टर पर बहुत गुस्सा आता। लगता जैसे कि सारी डाक्टरी विद्या ने मुझसे धोखा किया है।

अभी भी अक्सर ऐसा लगता है कि डाक्टरी विद्या मुझसे फिर धोखा कर रही है। मेरा पेटदर्द तो फिर भी होता ही था पर मैंने उसकी शिकायत करनी बंद कर दी। और वह अपने आप पहले की ही तरह ठीक भी हो जाता था। समझ नहीं आता कब किसका विश्वास किया जाये। न विश्वास करके भी कहां चैन मिलता है। अपना अधूरापन हम दूसरों के अधूरेपन से भरने की कोशिश करते रहते हैं और नतीजा घटाव को घटाने के बजाय और भी ज़्यादा बढ़ा देता है।

मेरे इलावा अगर कक्कू का रौब किसी और पर हमारे घर में चलता था तो वो थी मां। सबसे छोटा होने की वजह से वह मां का खूब लाड़ला था। यूँ इतने बच्चे पैदा हो जाने के बाद मां में लाड़-चाव का मादा बचा नहीं था। अक्सर वे झिंकती कि कक्कू बड़ा तंग करता है। फिर भी वह मां का चहेता तो था ही और मां उसकी मर्जी के खिलाफ कुछ नहीं कर सकती थीं। उसके मन की न होने से वह एकदम खफा हो जाता था। मुझे याद है जब मैं छठी जमात में थी और वह चौथी में। वह प्राइमरी स्कूल में जाता था मैं मिडल में। उसका स्कूल डेढ़ बजे खत्म हो जाता था। ज़्यादातर इसी वक्त घर में दोपहर का खाना खाया जाता था। कभी खाना पकने में देरी हो जाती तो मौजूद लोग इंतज़ार कर लेते। उन दिनों हम पिताजी का तबादला होकर लखनऊ आये ही थे और नौकर वगैरह का ठीक इंतज़ाम नहीं हुआ था, इसलिये खाना तैयार होने में कभी-कभी देर भी हो जाया करती थी। लेकिन अगर खाना तैयार होने में देरी हो और कक्कू जी को भूख लगी हो तो बस कहर टूट पड़ता था। सच में कहर ही-- एक बार मैं स्कूल से लौटी तो कक्कू कंकड़ उठा-उठा कर घर की ओर फेंक रहा था। मां अंदर खाना तैयार करती चिल्ला रही थी "देख अभी तैयार हुआ जाता है, घर के शीशे मत तोड़!" कक्कू रुक नहीं रहा था और न ही कंकड़ लगने से रोकने कोई घर से बाहर निकल रहा था। मैं उसे पीटने को दौड़ी तो वह भाग गया। लेकिन मां मुझी को गुस्सा हुई कि मैंने उसे खाना नहीं खाने दिया। शाम को मैं चाहती थी कि उसे पिताजी से डांट पड़े लेकिन मां ने झाड़ दिया - "रहने दे। बेचारे ने पहले ही सुबह से कुछ नहीं खाया। अब और हंगामा मत करवा घर में!"

मुझे बहुत गुस्सा आया था कि उसकी ये हिम्मत कि मां को पत्थर मारे! और मां है कि फिर भी उसकी तरफदारी किये जा रही है! लेकिन ऐसा सब कहा करते थे कि कक्कू का मिजाज कुछ गरम था। उसकी ये हरकतें भी उसके स्वभाव की खासियत मान कर स्वीकार कर ली गयीं थी और इनके लिये उसे कोई सज़ा

नहीं दी जाती थी। न ही कभी किसी ने उसके बर्ताव से ऐसा महसूस किया कि कहीं कुछ गलत था। गरम मिज़ाज़ होना अपने आप में कोई बड़ी बात है भी नहीं।

यूँ उसका और मेरा साथ भी खूब था--घर के बाहर वही मेरा संरक्षक बन जाता। एक बार एक लड़के ने मुझे धक्का देकर गिरा दिया था--कक्कू ने उसकी वो पिटाई की कि लड़के के मां-बाप घर पर शिकायत करने आ गये थे।

कक्कू स्कूल में भी बहुत अच्छे नंबर लाया करता था। उन दिनों घर में यह बात बार-बार उठायी जाती थी कि कक्कू को डाक्टर बनाना है, कि वह घर में सब से ज़्यादा होशियार और दिमागवाला लड़का है इसलिये उसे डाक्टर ही बनना चाहिये। मुझे रश्क हुआ करता था। मैं अपने आप से कहती कि मैं भी सबको डाक्टर बनकर दिखाऊंगी--कक्कू मुझसे ज़्यादा होनहार कैसे हो सकता है! यूँ हमारा स्कूल और दर्जा दोनों ही फ़र्क थे। जब मार्कशीट आती तो हम दोनों की ही अपनी जगह तारीफ़ होती! घरवालों की उम्मीद के हिसाब से या फिर हमें प्रोत्साहन देने के लिये, जो भी नंबर आते वे उन्हें बढ़िया ही कहते। यूँ मुझे कभी-कभी लगता कि मेरे नंबर ज़्यादा बढ़िया आते थे लेकिन सबको कक्कू के नंबरों से ज़्यादा खुशी मिलती और मुझे नाराज़गी या कक्कू के प्रति ईर्ष्या से बचाने के लिये वे मेरी भी तारीफ़ कर देते। पता नहीं ये बात सच थी या नहीं पर बड़े होकर मैं इस तरह सोचती ज़रूर थी। यह और बात है कि दसवीं तक आते-आते मैंने डाक्टर बनने का विचार छोड़ दिया था जबकि कक्कू के दिमाग में तब तक यह खूब ठोक पीट कर बैठाया जा चुका था कि वह डाक्टर बनेगा ही। एक बार मुझे फ्लू हो गया था। वह हमारी नोक-झोंक के लिये तरस रहा था। फ्लू पूरा हफ़्ता ले गया था। कहने लगा-"जब मैं डाक्टर बनूंगा तो फ्लू की ऐसी दवाइ़ निकालूंगा कि बस एक दिन में ठीक हो जाये" फिर कुछ रक कर बोला-"लेकिन मुझे शायद सायकियाट्रिस्ट बनना चाहिये--तब तो हर बीमारी की असली जड़ पता लग जाती है--है न दीदी?" वह मेरे पेट दर्द वाला वाकया मुझे भूलने नहीं देता था। कक्कू का डाक्टर बनना घर भर की इच्छा और उम्मीद के भी आगे एक अपेक्षा बन गया था जैसे कि उसके बिना गति ही नहीं। और इस हद तक कि अपनी और दूसरों की ये अपेक्षा दिमाग के भीतर एक कीड़े की तरह घुस कर उसे चाटने लग जाये।



## २

उन दिनों पिताजी का तबादला दिल्ली में हो चुका था। मैं बी. ए. के पहले साल की पढाई कर रही थी। कक्कू का हाई स्कूल का रिज़ल्ट आनेवाला था। वह पूरे ज़ोर-शोर से मेडिकल और इंजीनियरिंग के स्कूलों को अर्ज़ियां भेजने में लगा हुआ था। जितनी कड़वी और धारदार प्रतियोगिता इस माहौल में थी उसका अंदाज़ा न तो कक्कू को था न ही घर में किसी और को। मैं तो यूँ पहले से ही इस खेल से बाहर थी और कला के विषय लेकर मज़े कर रही थी! लेकिन कक्कू कभी-कभी नर्वस ज़रूर हो जाता था कि अगर दाखिला न मिला तो करेगा क्या। यूँ मन में कहीं ये भरोसा भी था कि कहीं न कहीं तो मिलेगा ही सही। आइ. आइ.टी. में नहीं मिला तो कहीं और सही। एक बार मुझसे बोला-

"तुमको क्या लगता है दीदी--मेडिकल में मिलेगा या कि इंजीनियरिंग में?"

"तू क्या चाहता है?"

"मेडिकल। फिर बड़ा डाक्टर बनने के लिये इंग्लैंड जाऊंगा।"

अमृतसर वाले डाक्टर की छवि शायद अभी भी उसके दिमाग में कहीं थी।

मुझे पहली बार इस बात का सुख मिल रहा था कि लड़की होने के नाते मुझ पर ∞ऐसा कोई दबाव या अपेक्षा नहीं थी। बचपन की सारी शिकायतें जैसे एकबारगी ही खत्म होने को आयी थीं। मुझ पर न कैरियर बनाने का कोई ज़ोर था न ही पढाई में अच्छे नंबर लाने का। हम कालेज में क्लासें कट कर के सिनेमा देखते, कनाट प्लेस घूमते, पर हमें कोई कुछ नहीं कहता। कक्कू के स्कूल के काम में ज़रा सी कमी आती तो उसे डांट पड़ जाती। कुछेक सालों में पिताजी रिटायर भी होने वाले थे, शायद इसी से कक्कू को लेकर उनको घबराहट भी होती थी कि किसी तरह उनके अपने नौकरी में होने के दौरान ही कक्कू सेटल हो जाये! इसलिये उसमें ज़रा सा नुक्स भी उनकी बर्दाश्त के बाहर हो जाता था। जिन पिताजी ने बचपन में कक्कू को ढेर-ढेर प्यार दिया था अब उनकी बेचैनी और उतावली ही उसके हाथ लगती थी। दोनों बड़े भाई बीवियों समेत आसाम और बंगलोर में पोस्टेड थे। पिताजी को उनसे ज़्यादा उम्मीद नहीं थी! और लड़कियों से किसी तरह की उम्मीद करना उनके समाज और समझ में मुमकिन ही नहीं था। कक्कू को अपने पैरों के बल खुद ही खड़े होना था।

कभी-कभी मुझे हैरानी होने लगती थी कि आखिर पिताजी ने हम लड़कियों को क्योंकर पढ़ाया। यूँ हम सब बहनों की पढ़ाई अधबीच ही रह गयी थी! एम. ए. पूरा करने के पहले ही शादियां हो गयीं और पढ़ा-पढ़ाया सब धूल में। सब कहा करते थे कि लड़कियों को तो इसलिये पढ़ाया जाता है कि अच्छे वर मिले, कि आजकल के लड़के पढ़ी-लिखी ही मांगते हैं--इसलिये ज्यों ही वर मिला पिताजी ने पढ़ाई छुड़वा दी। लेकिन हमारे स्कूल-कालेज में अच्छे नम्बर लाने पर यकीनन ही उनको फ़ख भी होता था। वे अकसर बड़ी दीदी और मेरा चर्चा अपने दोस्तों के बीच किया करते थे और अकसर कुछ अफसोस के साथ दोहरा देते कि "लड़कियां लायक भी हुईं तो क्या फायदा--हैं तो पराये घर की ही--लायक तो लड़के ही होने चाहिये।" लेकिन फिर भी उनको हमारी लियाकत के बारे में बात करना अच्छा लगता। अब बड़े होने पर मुझे लगता है कि बेटियों को पढ़ाने से उनको समाज में अपना स्तर भी कहीं ऊंचा होता लगता होगा। कहीं इसमें ये भी तो गंध होगी कि जिस घर में लड़कियां इतनी लायक हैं वहां लड़कों का तो क्या ही कहना। वे शायद बेटियों को पढ़ाई पूरी भी करने देते अगर मां की शादियां जल्दी करने की ज़िद न होती।

मुझे हर हालत में इसका फायदा ही फायदा था क्योंकि अगर मैं कालेज में अच्छा नहीं करती तो कोई डर नहीं था, आखिरकार शादी करके सिलसिला खत्म किया जा सकता था और अगर अच्छा करती तो---दरअसल तब भी कुछ फायदा नहीं था और इस नुकसान का पता मुझे बहुत बाद में चला जबकि मेरी फर्स्ट डिविजन आने के बावजूद मां ने मुझे एम. ए. करने से रोक दिया। बहुत लड़ाई और ज़िद के बाद फिर पिताजी से उनको मनवाया था। मां ने इजाज़त इसलिये भी दे दी थी कि जब तक लड़का न मिले, लड़की को कुछ न कुछ तो करना ही चाहिये वरना घर बैठ कर मैं उन्हीं का सिर खाती। मां दरअसल बड़ी गमगीन सी रहती थीं। कभी-कभी लगता कि जितनी वे हमारे करीब हैं उतनी ही कहीं दूर भी। उनको एक ओर कक्कू का फिक्र रहता था तो दूसरे मेरा फिक्र भी कम नहीं था --एक तरह से कक्कू और मेरी किस्मत जैसे एक दूसरे से जुड़ी-अटकी थी। उसके भले में मेरा भला था और उसके उजड़ने में मेरी तथाकथित उजड़ी अविवाहित ज़िंदगी।

लेकिन कक्कू तो जी तोड़ मेहनत कर रहा था। कोई कसर नहीं छोड़ी थी उसने पढ़ाई में। जब भी रात में नींद खुलती उसका टेबल-लैम्प जलता ही होता। पास जाकर देखती तो वह पढ़ ही रहा होता। बल्कि कभी-कभी उसकी आंख लग गयी होती तो मैं चुपके से लैम्प बुझा देती। तब वह सहसा जग कर कहता-"जलता रहने दो दीदी..मैं पढ़ रहा हूँ।"

कक्कू की फर्स्ट डिविजन छह नंबरों से रह गयी। पूरे साल भर आदमी जितनी

मेहनत करता रहे--फैसला तो बस आठ दिन की उपज पर ही मुनस्सर होता है! इंसान चाहे कितना भी रो-पीट ले, एक बार धब्बा लग गया तो कभी छूटनेवाला नहीं। आप आगे के धब्बे बचा सकते हैं पर जो एक बार लग गया सो तो रहेगा ही। पर उतनी सी कच्ची उम्र में किसको पता होता है कि ये तो बड़े से थान पर लगने वाला एक छोटा सा दाग है। उल्टे लगता है कि ये धब्बा नहीं, कोई अंधेरी सुरंग है जो किसी स्याह पाताल में ही जाकर खुलती है। कक्कू के भविष्य पर जैसे किसी ने मोटा-काला परदा डाल दिया हो। कितनी ही भाग दौड़ की अपने जान-पहचान वालों से। जिसकी भी सिफारिश चल सकती थी, लगवा ली। पर शायद उन सिफारिशों में इतना दम भी नहीं था--पिताजी उतने ऊँचे दर्जे के अफसर नहीं थे कि उनका खतबा कारगर होता। खासकर दिल्ली जैसी जगह में जहाँ कि प्रधान मंत्री तक मौजूद है। इंजिनियरिंग या मैडिसन कहीं भी दाखला नहीं मिला उसे।

पिताजी ने ठंडी उसांस भर कर कहा था--“जिससे ज़्यादा उम्मीद होती है, उससे उतनी ही नाउम्मीदी हाथ लगती है” निराशा का एक गहरा तीर भीतर जाकर अटक गया था “--अब करेगा क्या ये लड़का!”

कक्कू ने तो किसी से बात ही करनी बंद कर दी थी। दिन भर घर के बाहर रहता। पता नहीं कहां सड़कों पर मारा-मारा घूमता--पिताजी का तो सामना ही नहीं करता था वह। घर आकर पिताजी हमेशा उसके बारे में पूछते और हम उनका सवाल अनसुना कर देते। घर भर में अजीब मातम सा छाया रहता। यहाँ तक कि बड़े भईया की भी कुछ इसी तरह की मातमपुर्सी की चिन्नी आयी--"बेहद अफसोस हुआ कक्कू के रिज़ल्ट का सुनकर। उसकी तो ज़िन्दगी ही खराब हो गयी। बिना डाक्टरी-इंजिनियरिंग के तो कलर्की ही हाथ में आती है। उसे कहना खूब मेहनत करेगा बी.ए. में--अब बस आई. ए.एस. का ही चांस बचा है, बड़ा ज़्यादा टफ कॉम्पीटीशन है वहाँ--पता नहीं इससे हो पायेगा कि नहीं। खैर अब तो जो होना था हो चुका। बस यही तो उम्र होती है या खेल लो, खा लो या फिर पढ़ लो। मैं तो शुरु से कहता था कि मां - पिताजी का इतना लाड़ कक्कू को ज़रूर बिगाड़ेगा--पर हमारी कौन सुनता है। "

भईया की चिन्नी पढ़ के कक्कू को लेकर मैं बहुत डर गई थी। लगता था जैसे सचमुच घर में कोई मौत घट गई हो। मैं कक्कू के चेहरे को देखती तो मौत का सा ही सूनापन और सन्नाटा वहाँ दीखता। यूँ मेरे अपने भीतर भी निराशा कम नहीं थी। मुझे खासकर पिताजी की उदासी बहुत घायल कर जाती थी। सच में क्या-क्या सोचते थे वे कक्कू को लेकर--कक्कू की ज़िन्दगी के सोलह साल उनकी अपनी ज़िन्दगी के

खुशनुमा साल थे--पर अबसे उनकी सूरत बदल जायेगी। वैसे नहीं जैसे कि मौसम बदलता है, मौसम तो वही सूरत फिर भी लौट आता है--यह बदलना तो ऐसा था जैस कि किसी को दफना आने के बाद उससे नयी तरह का रिश्ता कायम करने की दर्दनाक कोशिश। जिस कक्कू के सहारे सब आसमान में उड़ने की तैयारी कर रहे थे अब पंख कट जाने के बाद उन्हें मिर्गियों के साथ नया समझौता करना था।

सामान्य आर्ट और साईंस कालेजों में उसने अर्जी भी नहीं भेजी थी। साल ज़ाया न करने के इरादे से एक साधारण से कालेज में कक्कू ने दाखिला ले लिया। लगा कि स्थिति से समझौता हो गया है। बी. एससी. करके वह फिर कहीं दाखिले के लिये अप्लाई कर ही सकता है। इधर उसे दाखिला मिला कि कालेज खुलने वाले भी हो गये। कक्कू ने नियमित रूप से कालेज जाना शुरू कर दिया। मेरा कालेज यूनिवर्सिटी कैम्पस में था इसलिये मैं सुबह-सुबह यूनिवर्सिटी स्पेशल लेकर निकल जाती। कक्कू का साऊथ देहली कैम्पस में ही था इससे वह आराम से मेरे कुछ देर बाद घर से निकलता क्योंकि उसे कालेज पहुंचने में आधे घंटे से ज़्यादा नहीं लगता था। अब तक मेरे सारे भाई-बहनें शादी करके सेटल हो चुके थे। कालेज जाने वाले बस हमी दोनो थे। कालेज के बाद शाम को हम अकसर रोज़ ही नोट्स एक्सचेंज करते।

"क्यों कक्कू, कैसा चल रहा है कालेज?"

"ठीक ।"

"ठीक क्या ? मन लगा?"

"हूं ----। "

"क्यों नहीं लगा?"

"नहीं ठीक है।"

"-----"

"-----"

"लेक्चरार कैसे है?"

"ठीक है। अभी तो क्लासेज ठीक से शुरू भी नहीं हुई। "

"कोई पहचान का--अपने स्कूल का लड़का है वहां?"

"अभी तक तो कोई नहीं दीखा , मैं भी ढूंढने की कोशिश कर रहा था। न ही दीखे तो बेहतर है--वो भी हैरान होंगे। "

"हैरान क्यों--?"

"बस--बस यही --यही कि ये भी यहां है!"

"क्या मतलब?"

मैने अनजान बनते हुए कहा था।

"दीदी--पता नहीं क्यों- - पर स्कूल में भी सब मां-पिताजी की ही तरह सोचते थे--- शायद इसलिये कि इन आम कालेजों को मैं इतनी हिंकारत की नज़र से देखता था। --कहते हैं कि भगवान बदला लेता है।"

"ये कैसी बात कर रहा है तू!"

-----

"दीदी!-----क्या मैं बहुत ब्राइट नहीं था?"

"ऐसे क्यों पूछ रहा है तू!

"मुझे लगता है कि मैं ब्राइट था---मगर ऐसा फिर हुआ क्यों?"

"लायक होने का सिर्फ यही माप तो नहीं होता कक्कू!"

"लेकिन लोगों की नज़र में तो होता है---क्या मैं देख नहीं रहा--तुममें--मां-पिताजी में ---भईया में? क्या तुम अब भी मुझे वही समझते हो जो कि पहले समझते थे? तुम सोचती हो कि मैं तुम्हारी निगाहों का फ़र्क देख नहीं सकता। महीने या उससे कम वक्त में ही जिन नज़रों में इतना ज़मीन आसमान का फ़र्क पड़ गया हो! तुम मुझे सचमुच बेवकूफ समझने लगी हो कि इसे पता ही नहीं चलेगा!"

वह अचानक चुप हो गया और कमरे से बाहर निकल गया था जैसे कि इस बारे में आगे कोई बात न करना चाहता हो। उसकी चोट का अंदाज़ा मुझे था पर अब वह नंगी हो कर उघड़ी पड़ी थी मेरे सामने। क्या मैं कुछ कर सकती हूँ --क्या कर सकती हूँ--मैं बहुत देर तक सोचती रही। सिर्फ हमदर्दी इस घाव को नहीं भर सकती थी।

कालेज में सहेलियों और पढ़ाई में चाहे मैं दुनिया-जहान ही भूल जाती थी फिर भी कक्कू में मेरा ध्यान लगा रहता था। मन ही मन मैं प्रार्थना करती कि किसी तरह मेरा भाई खुश रहे। पर कक्कू मुझे दिल से खुश कभी नहीं दिखता था। मैंने उसे अपनी सहेली के घर ले जाना चाहा पर उसने मना कर दिया। एक दो बार हम फिल्म देखने साथ गये। फिर उसने उससे भी मना कर दिया।

एक दिन जब मैं घर लौटी तो वो पहले से ही मौजूद था जबकि ज़्यादातर उसकी क्लास में मेरे काफी बाद खत्म होती थी।

"आज इतनी जल्दी कैसे आ गया तू?"

"यू ही--"

"क्लास नहीं थी?"

"बोरिंग है। कुछ नहीं होता वहां।"

"-----"

"कोई दोस्त नहीं बना तेरा?"

"कोई दोस्ती करने लायक है ही नहीं वहां। सब गंवार से लड़के हैं।"

"लेकिन कोई तो---"

"मन नहीं करता जाने का।"

"कक्कू ये क्या कर रहा है तू? मालूम है न अगर दुबारा नंबर खराब आये तो रहा-सहा चांस भी चला जायेगा।"

"हंह! चांस बचा ही कौनसा है जो चला जायेगा।"

"फिर भी, डोट गिव अप लाइक दिस!"

"मैं क्या करूं दीदी---मन ही नहीं लगता वहां।"

वह बिस्तर पर निढाल सा होकर लेट गया था। आंखें सफेदी पुती छत में जाकर गढ़ गयीं।

और वह अकसर कालेज न जाकर देर तक बिस्तर पर ही लेटे रहने लगा था। अकसर मैं दोपहर ढाई-तीन बजे लौटती और उसे बिस्तर पर ही लेटा पाती। मां झीखती रहती।

"पता नहीं क्या हो गया है इसको। दिन भर बिस्तर पर ही पड़ा रहता है। खाना पूछती हूं तो खाने को मना कर देता है--शाम चार बजे इसका नाश्ता होता है।"

शाम पिताजी के आने तक कक्कू अकसर तैयार होकर घर से जा चुका होता था। कुछ दिन तो मां पिताजी से यह बात छुपाती रहीं। मुझे भी कह दिया कि फालतू में घर में झगड़ा न डलवाऊं। पर धीरे-धीरे वह पिता जी की मौजूदगी में भी घर में ही लेटा दीखने लगा। एक इतवार को जब कक्कू लंच के वक्त खाने की मेज पर नहीं पहुंचा तो पिताजी ने हैरानी के साथ पूछा।

"ये कक्कू क्यों नहीं उठा अभी तक।"

मां ने किसी भी तरह की शिकायत या फिक्र न जाहिर करके बड़ा सहज बनते हुए जवाब दिया था- "बस ऐसे ही करता है आजकल।"

कक्कू के प्रति मां का रख मुझे समझ नहीं पड़ता था। पिताजी से छुपाना या बाहरी तौर पर ऐसा दिखाना कि सब कुछ सामान्य और सही है---क्यों करती हैं मां ऐसा?--यह क्या वस्तुस्थिति को झुठलाना था या कि कोई और तकलीफ थी जिसे मां हम सबसे छुपाती थीं। मां का खामोश गंभीर चेहरा अक्सर किसी अंदरूनी पीड़ा से आक्रांत सा लगने लगता था।

पिताजी गरज रहे थे-

"क्या मतलब और दिन भी ऐसे ही सोता रहता है--सुबह मेरे आफिस जाने तक भी सोया होता है ये।"

वे उठे और उसके कमरे के दरवाजे के पास खड़े होकर दहाड़ लगायी-

"चलो खाना खाने मेज पर आओ। "

बिना हाथ -मुंह धोये जब कक्कू मेज पर आया तो मां ने डांटा-

"कम से कम ब्रश तो कर लो। ऐसे कैसे खाओगे।"

कक्कू वैसे ही उठ गया और जब तक वह हाथ मुंह धोकर लौटा, सब लोग मेज से खाकर उठ चुके थे।

वह चुपचाप आकर मेज पर बैठ गया। उसके चेहरे पर अजीब डर और अपराध का भाव था। वह जाने कब तक यूं ही बैठा रहता बिना खाना मांगे या खाये अगर मां ही न उससे कहती-

"मैं सब्जियां दुबारा गरम कर के ला रही हूं, बाहर धूप में आकर क्यों नहीं खाता? हम सब वहीं बैठे हैं।"

उसने बस इतना कहा-

"नहीं यहीं दे दो "

## ३

छमाही इंतहानों का वक्त आ जाता है। कक्कू की कोई तैयारी नहीं होती। पिताजी जोर-जबरदस्ती उसे सुबह कालेज भिजवा देते हैं। वहां जाने क्या होता है। कक्कू कहता है कि वह हर क्लास में जाता है पर उसकी हाजिरी इतनी कम है कि उसे यूं भी परीक्षा में बैठने की इजाजत नहीं मिल सकती। पर खैर शिक्षकों से मिलमिलाकर आचरण के सुधार की मोहलत मिल जाती है।

इस्तहानों के बाद मैं एक बार बुद्ध जयन्ती बाग जाती हूं, सहेलियों के साथ। कक्कू वहां अकेला घूम रहा होता है। लम्बा, उंचा और इकहरा जिस्म। गठा हुआ अंडाकार खुबसूरत चेहरा--खूब तीखी रेखाओं वाला। गाल का गढ़ा कुछ और गहरा गया था। हल्की-हल्की मूछे उग आयीं थीं--कुछेक बाल ठोढ़ी पर भी थे। पर बुझा सा चेहरा जैसे कहीं और ही गुमा हुआ था। मैं उसे सबसे मिलवाती हूं--वह आंखे नीची किये एक ही बार में उन सबसे हलो कह देता है। उसके कपड़े भी मुसे से हैं। मुझे सहेलियों के सामने शर्म सी लगती है--इसका कोई दोस्त नहीं, यूं ही अकेले घूम रहा है, और कहीं अगर वे उसके कालेज के बारे में पूछ ले तो मैं क्या कहूंगी! कक्कू हमे बाय कहकर दूसरी ओर को निकल जाता है। संध्या कौतूहलवश पूछ ही लेती है-

"तेरा भाई करता क्या है।"

"कालेज जाता है।"

"कौनसे?"

"सनातनधर्मा।"

वह आगे कुछ नहीं पूछती। या तो मेरे कटे छोटे जवाबों की वजह से या ये सोचकर कि इसका भाई तो यूं ही है। उस दिन की पिकनिक में मैं सिर्फ आसमान पर पड़े बादलों के धब्बों को देखती रहती हूं।

उसके बाद जो दिन मुझे ध्यान में आता है वह है मार्च की मीठी-मीठी, आम की बौरों से गंधित गर्मी का। मैं बाहर लान में आम के पेड़ के नीचे बैठकर इस्तहानो की तैयारी कर रही थी। इस मौसम की मेरी सबसे पसंदीदा पढ़ने की जगह इसी आम की छाया में थी। आम खाने को तो मिलते नहीं थे, पर घनी-घनी छाया खूब मिल जाती थी। पकने के पहले ही सारे आम तोते खा जाते। या मां कुछ कच्चे ही उतरवा कर



अचार बनवा डालती थी। आम के हरे पत्तों की हरियाली में ये तोते कभी दीखते नहीं थे। बस जब हम कंकरी मारते तभी उनके समूह के समूह आसमान को बाहों में भरते अदृश्य हो जाते। उनकी गिरायी हुई अधखायी अम्मियां या बीठे ही अपने सिर और कपड़ों को नसीब होती। फिर भी मुझे बैठना तो यही होता था। इससे मैं मां और हमारे घर में सफाई करने वाली, बर्तन मांजनेवाली और जमादारनी के बीच होने वाली चखचख को सुनने से तो बच जाती थी। खूब धड़ल्ले से होती फिर पढ़ाई।

मनोविज्ञान की किताब खोले मैं फ्रायड का स्वप्न सिद्धांत पढ़ रही थी जबकि सहसा पिताजी की तूफान की तरह गरजती हुई आवाज मेरे कानों के परदों से बिजली की कड़क की मानिन्द टकराई। किसी को, और भला और कौन हो सकता था कक्कू के सिवाय, बड़ी जोर से डांट पड़ रही थी।

"बेशर्म! शर्म नहीं आती तुझे! अब लुच्चेपन और बेहयाई पर भी आ तुला है तू!"  
मैं थरथराकर उठ खड़ी हुई और बंगले की तरफ चल पड़ी।

पिताजी कक्कू के सोने के कमरे में घुसे उसे बिस्तर से निकाल कर पेट-पीठ पर पूरे दम के साथ घुसे मारे चले जा रहे थे। उसने एक दो बार अपने हाथों से उनके वारों को रोका तो वे पैरों से उस के पेट पर वार करने लगे। पिताजी पर ऐसा भूत सवार था जैसे कि कक्कू ने किसी की हत्या कर दी हो। मां भी उसके बचाव के लिये नहीं आ रही थी जो कि आम तौर पर होता। कक्कू ने कुछ ऐसा कर दिया था जो मुआफी की हर हद के बाहर था। लेकिन ऐसा क्या था कि कक्कू भी भीगी बिल्ली सा बना पिताजी की बेतहाशा मार सहें जा रहा था। मैं सहमी सी मां के पास रसोई में गई।

"तुम रोकती क्यों नहीं पिताजी को। इस तरह क्यों मार रहे हैं उसे!"

"उसने काम जो ऐसा किया है"

"कैसा काम?--"

"वही जो लड़के करते हैं---"

"क्या! क्या करते हैं--"

"वही--वो हाथ में लेकर।"

कुछ ठनका था मेरे भीतर।

"लेकिन इस तरह से मारना--कोई पाप तो नहीं किया उसने।"

"ज्यादा बड़बड़ मत कर। संभालने दे ये इन्ही को। तेरे मतलब की बात नहीं ये! जा बाहर, अपनी पढ़ाई कर।"

मेरे मतलब की बात यह नहीं थी और उस घर में अकेली मैं ही थी जो मनोविज्ञान पढ़ रही थी और इन बातों का मतलब कुछ समझती थी। लेकिन मां ने घोषित कर दिया था कि यह मेरे बोलने का विषय नहीं था। कि ये मेरे मतलब के दायरे के बाहर की बात थी। मैं कुछ भी जवाब नहीं दे पायी और अपना सा मुंह लेकर लौट आयी।

यूं मैं मां के दृष्टिकोण को एक हृद तक समझ भी सकती थी। मां -पिताजी का जीवन बड़ा संयमित-नियमित था। पिताजी शराब-सिगरेट न कभी छूते न किसी को छूने पर बकशते। मां सुबह नियम से पूजा पाठ करके ही खाना मुंह को लगाती थीं। सरदियों -गरमियों वे पूजा से पहले ठंडे पानी से नहातीं। पिताजी अपने ढंग से नियम कर्म के पक्के थे। अपने वालिद की मौत के बाद बड़ा बेटा होने की वजह से सारे भाई बहनों का बोझ उन्हीं पर आ पड़ा था जिसे उन्होंने भरसक ताकत और इमानदारी के साथ निभाया था। पहले अपने भाई बहन और फिर अपने बच्चे--उनकी ज़िंदगी एक-एक करके सबको सेटल करने में ही निकल गयी थी। उनको इसी में फख था। कुछ कर पाने का सुख था, शिकायत नहीं थी। गांधी, आर्यसमाज, या सनातन धर्म इन सबके आदर्शों को पिताजी ने अपने भीतर उतारा हुआ था। शायद इसीलिये कक्कू से किसी तरह के अनुशासन की अपेक्षा उनकी नज़रों में नावाजिब नहीं थी! समय पर उठना, नहाना-धोना और किसी तरह के विकार से अपने को मुक्त रखना--यह सब उनके लिये जीवन के प्राथमिक मूल्यों में शामिल था। मैंने खुलकर चाहे विद्रोह कभी नहीं किया पर मैं उनके इस कफ़िर नज़रिये की आज तक कायल नहीं हो सकी।

उसके बाद एक दिन मैंने अपनी आंखों से देखा। कक्कू के कमरे का दरवाजा खुला था। यूं उसे दरवाजा बंद करने को पिताजी ने मना कर रखा था और कहा था कि करने पर उसका अलग कमरा उससे छिन जायेगा। अब तक कक्कू का उस घर में ऊंचा स्टेटस ही रहा था और बड़ावाला कमरा उसे मिला हुआ था। डाक्टरी न पढ़ने के बावजूद कमरा उससे छिना नहीं था। पर अब छिन जाने की धमकी दी जा चुकी थी। उसे अपने इस कमरे से बहुत लगाव था--बेबात अंदर आने पर वह मुझे डांट दिया करता था।

कक्कू पेट के बल बिस्तर पर लेटा हुआ था, सिरहाना उसके पेट के ही नीचे था और वह जिस्म को ज़ोर-ज़ोर से सिरहाने के खिलाफ रगड़ रहा था। अपने एक हाथ से उसने पलंग का सिरा थामा हुआ था और दूसरा हाथ पेट के नीचे ही पहुंचा था। जिस तेजी और बहाव के साथ उसका जिस्म झकोरे ले रहा था, उससे सारा पलंग भी जिस्म

की लय के साथ झूम रहा था। कक्कू को कोई होश नहीं था कि दरवाजे के बाहर कोई खड़ा भी हो सकता है या पलंग के चौखटों की दीवार से बजबजकर शोर करती आवाज घर भर का ध्यान अपनी ओर खींच सकती है। वह अपने से बेखबर, किसी पागल कर देने वाली मदहोश और उजड़ ताकत से चलायमान था। जैसे किसी पर देवी आ जाती है तो वह बेहोश सा झूमता अपने आसपास से एकदम परे हो जाता है और उसी दैवी आदेश से प्रेरित घूमता-झूमता है और उसकी सारी इंद्रियां किसी अनदेखी-अनजान रहस्यमयी दिशा में केन्द्रित हो जाती हैं, वैसी ही हालत कक्कू की थी उस वक्त। अचानक पता नहीं कहां से पिताजी आ टपके। उसके घने बालों से खींचकर उसे सीधा करके पेट में जोर-जोर से घूंसे देने लगे। कक्कू को कुछ पल तो होश ही नहीं आया कि हो क्या रहा है और वह सुन्न सा घूंसे खाता चला गया। फिर उसने सिरहाना उठाकर अपने बचाव की कोशिश की। पिताजी गुस्से में गालियां बड़बड़ाये जा रहे थे और जहां भी जिस्म का सिरहाने से निकला हिस्सा मिलता, घूंसे जमाये जा रहे थे। सहसा किसी घायल हाथी की चिंघाड़ती सी आवाज आहत कक्कू के मुंह से निकली-

"माफ कर दो मुझे! नहीं करूंगा----कभी नहीं करूंगा।"

कितनी हारी हुई, कितनी दर्द से सिंची थी वह आवाज! पता नहीं क्यों मुझे आदि कवि का आहत क्राँच याद आ गया। यौनसुख में बाधा आने की पीड़ा को अगर आदि कवि भावनाओं के उत्सव की तरह मनाता है तो सब वाहवाही करते हैं पर वही जब अभाव में स्व की ओर उन्मुख होकर व्यक्ति के यौनसुख का माध्यम बनता है तो उसे अकरणीय मानकर दंडित किया जाता है। क्या इंसानी ज़रूरतें और जज़बात समाज और नियमों की इजाज़त लेकर ही उभर सकते हैं! क्या उनका दमन ही अच्छे इंसान का फर्ज है..अच्छाई की परिभाषा है? कक्कू का दर्द, उसकी चीखें शायद गर्हणीय ही मानी गयीं। किसी को उन चीखों से हमदर्दी नहीं हुई। जिन बातों, इच्छाओं, या व्यवहारों को समाज स्वीकार नहीं करता उनका दर्द भी अस्वीकारणीय हो जाता है! जिस कल्पना का सुख वो भोग रहा था क्या वह इतनी निकृष्ट थी कि एक अपराधी की तरह उसे दंड दिया जाये। और इस बेदर्दी से। सहसा मुझमें जैसे कोई आंधी सी आयी। मैं कमरे में घुसी और कक्कू और पिताजी के बीच आकर उनको अपने दोनो हाथों से रोकने की कोशिश की।

"बस और मत मारिये प्लीज! वो आखिर बच्चा तो नहीं। सोलह साल का हो चुका है।"

"खबरदार जो मुड़ के ऐसा कभी किया तो। यही सीख रहे हो कालेज में। बेहूदा, बेशर्म! बस यही कुछ करेगा ये जिन्दगी में! पता नहीं कौन से दुष्कर्म किये थे पिछले

जन्म में जिनका भोगना पड़ रहा है। पढ़ना-लिखना सब मिला करके धरा हुआ है इसने। "

वे कमरे के बाहर निकल गये तो मैंने धीरे से कक्कू से कहा  
"ध्यान रखा कर ना। फालतू में ही मार खाता है।"  
वह थका निढाल सा पलंग की दूसरी ओर को मेरी ओर पीठ करता लुढ़क गया।

एक दिन जब मैं बाहर उसी आम के पेड़ के नीचे बैठी पढ़ रही थी तो वह मेरे पास आकर खड़ा हो गया। बहुत दिन बाद वह इस तरह से अकेले में मुझसे बातचीत करने आया था।

"कैसा चल रहा है कक्कू? "

"तुमसे एक बात पूछनी है दीदी!"

"बोलो।"

वो कुछ झिझका, तो मैंने कहा -

"हां-हां बोलो ना।"

"दीदी वह लड़की थी न---क्या नाम था उसका?--"-

"कौन सी लड़की?"

"वही ...वही जो बचपन में मेरी सहेली थी।"

"कौन सहेली---तेरी कोई ---"

"वही--जिसके बारे में तुम लोग मुझे छोड़ा करते थे।"

"तू गुड्डी की बात कर रहा है?"

"हां--उसी की बात कर रहा हूं---वो कहां है आजकल।"

"मुझे तो नहीं मालूम वो लोग कहां होंगे आजकल! लेकिन वह तो बड़ी पुरानी बात है। तुझे उसका कहां से ध्यान आ गया?"

"मुझे उससे मिलना है।"

मैं सहसा चौकी। ये कक्कू कैसी बात कह रहा है--एक सुदूर बचपन की छेड़छाड़! ये क्या सच में सीरियसली बात कर रहा है या कि मजाक। लेकिन कक्कू का चेहरा एकदम गंभीर था। उसने दुबारा कहा

"दीदी मेरा उससे मिलना जरूरी है--मुझे उससे कोई जरूरी बात करनी है"

"क्या बात करनी है?"

"एक बात है--जरूरी बात है--उसीसे कहनी है"--वह दुहरा रहा था।

यह बात इतनी हवाई सी थी कि मेरे पास इसका कोई जवाब था ही नहीं। कक्कू की जानने की जिद ने मुझे चिढ़ा सा दिया।

"मुझे तो कुछ मालूम नहीं कि वे लोग कहां पोस्टेड है--लेकिन उस लड़की को तो कुछ भी याद नहीं होगा। वह तो मुश्किल से तब दो तीन बरस की रही होगी। यूं भी वो तो मजाक की बात थी, उसका कुछ मतलब तो नहीं था।"

"तुम लोगों के लिये न हो मेरे लिये तो था। मुझे उससे जरूर मिलना है दीदी--क्या तुम मेरी मदद कर सकती हो।"

यह सच में आकाश के तारे तोड़ने जैसी ही बात थी लेकिन कक्कू यह असमर्थता मानने के लिये तैयार नहीं था--उसके ख्याल में दीदी अगर चाहे तो ये काम कर सकती थी। और मुझे इस बात से भी हैरानी थी कि उसे वह लड़की भला याद कैसे आ गयी। उन दिनों वह खुद मुश्किल से पांच छह बरस का रहा होगा। हां उसके बारे में छेड़ाछाड़ी काफी अरसे बाद तक भी हो जाया करती थी। और यह इतनी आम सी बात थी कि मुझे कभी लगा ही नहीं कि कक्कू ने कभी इस बात को तूल भी दी होगी। वो तो दीदी या मां यूं ही कह दिया करती--"ये लड़की सुंदर है न ---इससे तेरी शादी कर दे--" और कक्कू शर्मा कर मां या दीदी के आंचल में मुंह छुपा लेता। बस इतनी भोली सी बात----क्या इतने भीतर तक असर कर गई थी। और वे तो हमारे पड़ोस के लोग थे। एक बार तबादला हो गया तो हम सब भूलभाल चुके थे उनको। मैं ये भी नहीं समझ पा रही थी कि क्यों कक्कू की याद्दाश्त अचानक ही आज इतनी तीखी हो उठी है। उससे मैंने कहा -"ठीक है--मैं जरा पता करती हूं --पर मुझे लगता नहीं कि किसी को पता होगा।"

"जैसे भी दीदी प्लीज पता कर दो।"

कक्कू चला गया तो मैंने फिर से अपनी मनोविज्ञान की पुस्तक पढ़नी शुरू कर दी। --शायद बच्चों को बचपन में इस तरह छेड़ना भी सही नहीं होता--मन में अकसर रह जाती हैं ऐसी बातें। मैं अपनी बी.ए. की मनोविज्ञान की किताबों में सामने आ खड़े हुए पेचीदा सवालों का हल खोजने की नाकामयाब कोशिश करती रही।

मैं सोच रही थी कि --पिताजी से बात करनी चाहिये। थोड़ा डर इस बात का जरूर था कि वे कहीं कक्कू को मारने न लगे। पर उन दिनों हर चीज का अंतिम हल अगर कहीं था तो पिताजी के पास ही हो सकता था--चाहे गलत हो या सही आखिरकार बात उन तक पहुंचनी ही थी।

अभी मेरी पिताजी से बात करने की भूमिका ही बन रही थी कि कक्कू ने मुझसे फिर पूछा -"तुमने पता किया दीदी?"

मेर मुंह से निकला - "हां अभी पिताजी से बात करूंगी।"

कक्कू का चेहरा एकदम सफेद पड़ गया-  
"नहीं दीदी प्लीज पिताजी से बात मत करो।"  
मुझे अपनी गलती का ध्यान आया। मैंने बात संभाल ली।  
"और किससे पता चलेगा कक्कू कि गुड्डी के पापा का तबादला आजकल कहां का  
है! पिताजी को ही तो पता होगा या दफतर में किसी से पूछ देगे। ---मैं उनसे ये थोड़े  
ही कहूंगी कि तुमने पुछवाया है। "  
उसे तसल्ली हो गयी। फिर जाते जाते बोला  
"जल्दी करना दीदी---वर्ना देरी हो जायेगी।"  
मैं हकीबकी सी खड़ी रह गयी--इसे जल्दी किस बात की है!

## ४

कक्कू और भी ज़्यादा अपने में गुमसुम रहने लगा था। घर में होता तो अपने कमरे में पड़ा रहता--वर्ना दिन भर बाहर जाने कहां मारा मारा फिरता। रात के खाने के लिये भी मेज़ पर आने से बचता। अगर किसी तरह मेरे या मां के बुलाने से आ भी जाता तो बिना किसी से आंख मिलाये चुपचाप खा कर उठ जाता। बल्कि जब तक वह मेज़ पर रहता, अजीब तनाव सा बना रहता। मां को मैं अक्सर उसके चेहरे पर खामोश टकटकी लगाये पाती। कुछ अजीब अपारदर्शी सा भाव होता उनके चेहरे पर। पता नहीं

कि वे कक्कू के भीतर चल रही किसी उथल-पुथल को पकड़ने की कोशिश में होती या कि कोइ और ही उलझन थी उन आखों में!

कक्कू एक तरह से सबके हाथों से बाहर हो रहा था। उसके मेज़ से उठते ही पिताजी मां से कहते-"इसका कुछ करो न। ऐसा कैसे चलेगा"

क्या करती मां ? क्या कर सकता था कोइ भी! कुछ बदलाव आ रहे थे उसमें--पर ऐसा कुछ नहीं था जो कि अस्वाभाविक हो।

एक दिन मैं कालेज जाने लगी तो देखा मां बैठक में बड़ी संजीदगी के साथ पंडित जी से बात कर रही थीं। उस शाम मां ने कहा-" सुबह जल्दी नहा-धोकर तैयार हो जाना । पंडित जी हवन करेंगे। "

हवन कक्कू के ही लिये करवाया गया था। लम्बा हवन था। घी की आहुति कक्कू के हाथों ही डलवायी जा रही थी। पंडित जी ने कक्कू के लिये सदबुद्धि और सन्मार्ग की याचना की थी। जाते जाते कह गये कि कक्कू अवश्य डाक्टर बनेगा, विदेश घूमेगा और खानदान का नाम रौशन करेगा। मां आश्वस्त हो गयीं थीं। चेहरे पर डर की जगह एक तृप्ति का भाव था। घर में खुशहाली और उम्मीद का माहौल बन रहा था। मैं कक्कू के उदासीन चेहरे में अनागत की खुशहाल लकीरे खोजती रही थी। लगता था कि कक्कू जैसे किसी और ही दुनिया में रह रहा हो । कई बार वह पंडित जी को न सुन आग में घी भी नहीं डालता था, फिर मां उसका हाथ पकड़ कर डलवातीं। हवन की आग की वे लाल परछाइयां मां के चेहरे पर अजीब विश्वास की दमक ला देती थीं---जैसे कि कक्कू उस प्रक्रिया में स्वस्थ होगा ही! इसलिये जब पंडित जी ने कक्कू को डाक्टर बनने का आर्शीवाद और आश्वासन दिया तो मां ने झट से ५०१ रुपये गुरू दक्षिणा में चढ़ा दिये थे। यह उन दिनों पिताजी की लगभग महीने भर की कमाइ थी। मुझे यह भी मालूम था कि मां ने बरसों से पता नहीं किन अधूरी इच्छाओं को पूरा करने के लिये उन्हें संजोया होगा।

+ + + + +

कुछ दिन बाद बड़ी अजीब सी बात हुई। वह मेरे पास आया तो उसके हाथ में अंग्रेजी के सचित्र साप्ताहिक की एक ताजा प्रति थी। उसमें इंगलैंड की रानी की तस्वीर छपी थी। वह तस्वीर मुझे दिखाते हुए बोला-"इसको मैं जानता हूं--याद है फिरोजपुर वाली कोठी में ये आया करती थीं।"

मुझे लगा कि कक्कू हम सब से कहीं दूर जा रहा है। मैंने उससे सहज होने की कोशिश कर कहा-"ये तो क्वीन ऐलिजबेथ है कक्कू ! ये कहां से हमारे घर आयेगी!"

"लेकिन लगती तो एकदम पहचानी सी है।"

"वो इसलिये कि तुमने उसकी तस्वीर पहले भी बहुत बार देखी होगी।"

"लेकिन बात तस्वीर की नहीं, मैं सच में इसे जानता हूँ। तुम पूछ कर तो देखो!"

"किससे पूछूँ?"

"इसीसे।"

"तुम्हारा मतलब रानी से?"

"हां अभी फोन करके पूछ लो!"

"तुमको क्या हो गया है कक्कू! वह तो इंग्लैंड में रहती है।"

"बहुत पैसे लगेंगे फोन के!"

"बात पैसों की नहीं है कक्कू--ये तो महल में रहती है--इससे फोन पर बात नहीं हो सकती।"

"लेकिन दीदी यही उसका पता बता सकती है---ये भी उसको जानती थी!"

"किसको?"

"उसी लड़की को--क्या नाम है उसका?"

"गुड्डी को?"

"हां--हां----उसीको।"

मन में एक अजीब खटका सा हुआ--एक उदासी सी गिरने लगी। मेरे देखते-देखते बहुत कुछ बदलने लगा था और जैसे पानी को पकड़ने की कोशिश में मैं अपनी मुर्तियां भिंचे जा रही थी।

मुझे यह भी समझ ही नहीं आ रहा था कि मैं कक्कू के सवाल से किस तरह से पेश आऊँ। मुझे साफ दीख रहा था कि वह यथार्थ और कल्पना के बीच फर्क नहीं कर पा रहा है। लेकिन मुझसे पहली बार कोई इस तरह से बात कर रहा था। और वह भी मेरा सगा भाई---जिस पर मैं अपनी दहशत भी जाहिर नहीं होने देना चाहती थी, जिसको अब मैं मजाक में भी पागल नहीं कहना चाहती थी।

कक्कू मेरे पास से चला गया तो किसी अवश्यंभावी के अंदेशे और घबराहट से मेरी रूलाई छूट गयी। बात जितनी दूर जा चुकी थी उसे अब पिताजी से छुपाया नहीं जा सकता था। अब उनको हर हालत में और हर बात बताना लाजमी हो गया था।

+ + + + +



मेरी बात सुनते ही पिता जी एकदम सकते में आ गये। उनके चेहरे की पठानों जैसी तपी हुई गोराई और लालिमा किन्ही काली छायाओं में बदलने लगी। वे मुझसे ज्यादा समझ रहे थे--मुझे अपने सोचे पर शर्म आयी--मैने कैसे सोच लिया था कि वे मेरी बात सुनकर कक्कू को मारने लगेंगे! जिंदगी का अनुभव किये बिना कितना कम जान पाते हैं हम लोग और जितना कम जानते हैं उतने ही डर बड़े होते जाते हैं---पर कुछ चीजों को तो जानने के बाद उनको लेकर डर बढ़ता है--तभी तो इस वक्त पिताजी के चेहरे की डरावनी परछाईं देख सहम गयी थी मैं। वे बस इतना ही कह पाये थे-

"शायद हमें किसी डाक्टर से बात करनी होगी। पवन से बात करके देखता हूं।"

पवन चाचा सर्जन थे--पिताजी के कजन और करीबी दोस्त। पिताजी उनको बहुत मानते थे। यूँ मुझे चाचा-चाची पसंद थे। पर हमारे और उनके रहन-सहन में बहुत फर्क था। चाची भी इंगलैंड रहकर आयी थी सो उनका रहन-सहन बड़ा वेस्टर्नइजड था। उनकी मौजूदगी में आम तौर पर स्मार्ट लगने वाली मां सहसा बड़ी सादी और घरेलू सी लगने लग जाती थी। उनकी बेटा कान्वेंट में पढ़ती थी और उनके घर में हमेशा विलायती खाना पकता था। मैं और कक्कू उनसे उतने सहज नहीं थे। अकसर हम मां - पिताजी के साथ उनके घर गये हुए थे। उन्ही के सामने पिताजी ने मेरी और कक्कू की लियाकत के कई पुल बांधे हुए थे। शायद वे उन्हे दिखाना चाहते थे कि मैं तो तुम्हारी तरह सर्जन होने की उंचाई तक नहीं पहुंच सका पर मेरे बच्चे जरूर पहुंचेंगे। कितनी थोथी सुन पड़ रही होगी पिताजी को अपनी ये सच होने को तड़पती भविष्यवाणियां--- अब जब कि उन्ही चाचा से उनको कक्कू के बारे में सलाह करनी पड़ेगी।

चाचा ने अपने अपने अस्पताल के साईकेट्रीक डिपार्टमेंट में किसी डाक्टर से बात की थी और पिता जी से कहा था कि कक्कू को वहां दिखाना होगा।

लेकिन कक्कू को अस्पताल ले जाने के लिये कौन मनाता। पिताजी ने मुझसे कहा कि मैं कक्कू से किसी तरह बात करके उसे मनाऊं।

कक्कू अभी भी मुझसे गुड्डी का पता किये जाने की बातें कर रहा था। मैने उसे हल्की सी डांट लगाकर कह दिया -"तू आजकल इतनी अजीब-अजीब सी बातें करने लगा है कि पवन चाचा कहते हैं कि तुझे किसी सायकेट्रिस्ट से मिलना चाहिये।"

"क्या मतलब मैं पागल हो गया हूं"

"अरे! पागल होने की बात कौन कहता है! लेकिन सायकेट्रिस्ट तो मनोवैज्ञानिक होता है--उससे मिलकर तू अपनी बहुत सी बातों के बारे में पूछ सकता है। यह भी पूछ

सकता है कि तेरा कालेज जाने का मन क्यों नहीं करता या तेरा पढ़ाई में मन क्यों नहीं लगता--वह तो सिर्फ तेरी मदद ही करेगा --कोई घबराने की बात तो नहीं।"

उसे मेरी बात किसी तरह जंच गयी। आजकल यूं भी वह घर भर में मुझी पर भरोसा करता था। या उसे लगता था कि एक मैं ही उसकी बात समझती हूं। पिताजी से बात करने में उसे डर लगता था और मां के चेहरे की अभेद्य चुप्पी को भेदना उसके बस की बात नहीं थी। मां की खामोश आंखों की आतुर टकटकी उसे और भी दूर छिटक देती थी। उसे लगता था कि वे उसकी बात समझने के काबिल ही नहीं थी--उनकी दुनिया ही कोई और थी। सच में उसने जो बातें मुझसे की थी अगर मां से कह डालता तो मां शायद रो-चिल्ला कर आसमान सर पर उठा लेती। हो सकता है मां को मैं गलत समझ रही होऊं लेकिन हममें से किसी ने मां को कुछ बताया नहीं था और उन्हें कक्कू की हालत की गंभीरता का इस वक्त बिल्कुल अंदाजा नहीं था। जबकि जाने बिना भी जब-तब वे उसकी बात कर रो उठती थीं। शायद इसीलिये कक्कू उनसे घबराता था--मां के अतिशय प्यार का भीनापन चिपचिपाहट भी तो पैदा कर सकता है। इसी से शायद कक्कू को उस घर में मैं सबसे ज्यादा विश्वसनीय लगती होऊंगी।

चाचा अपनी गाड़ी लेकर आये थे। कक्कू को पिताजी ने इस तरह बिठाया मानों तफरीह के लिये ले जा रहे हो। इससे पहले जब कभी भी हम चाचा की गाड़ी में बैठे तो कुछ ऐसा ही मौका होता था। पिताजी के पास गाड़ी कभी नहीं हुई थी--हम इतने भाई-बहन थे कि उनकी कमाई से हमारी पूरी-सूरी परवरिश से ज्यादा मुनासिब नहीं था। फिर भी वे कभी-कभी चाचा की पुरानी गाड़ी मांग कर हमें सैर करवा दिया करते थे। पर आज तो चाचा अपनी नयीवाली अमरीकी गाड़ी लेकर आये हुए थे। कक्कू कुछ और न सोच कर गाड़ी की सवारी से उत्साहित हो रहा था। उस वक्त मुझे मन में ऐसा भास हो रहा था जैसे कि मैं कक्कू से छल कर रही हूं। जैसे कि मैं उसको दवा का नाम देकर ज़हर दे रही हूं जबकि ऐसी कोई बात थी नहीं। आखिर चाचा अपने पेशे में नाम रखते थे। उनकी सलाह में हमें किसी तरह के भी शक की गुंजाइश नहीं थी। फिर उन्होंने ये भी तो कह दिया था कि फिक्र की कोई बात नहीं होनी चाहिये। तब भी मन कहीं खटके से बेजार नहीं हो पाता था।

+ + + + +

यूं अंशु को जब अस्पताल ले जा रही थी तो खटका और भी ज़्यादा था --तब तो उसके बचने की ही उम्मीद बहुत कम लग रही थी। पहली मंजिल की खिड़की से गिरकर

बचने की उम्मीद कहां रहती होगी। फिर वो भी दो साल का बच्चा! कैसे पलकों की एक झपक भर में घट गया था सब कुछ--किसी की उम्र भर का लेखा-जोखा। और जिसकी पूरी जिम्मेवारी सिर्फ मेरी ही थी--किसी और की नहीं--किसी दूसरे पर दोष मढ़ने की गुंजाईश तक नहीं। इसे अपनी नादानी कहूं, बेवकूफी कहूं या फिर बदकिस्मती---क्या इतनी आसानी से, इतने थोड़े से पलों में किसी का सब कुछ लुट सकता है--सोचकर विश्वास नहीं होता--पर जो घट जाता है, उस पर विश्वास करने-न-करने का सवाल उठाना भी कितना भद्दा और बेमतलब लगने लगता है--सिर्फ एक खोखली प्रतिक्रिया। एक लाईलाज दर्द! वह एक पल की बेहोशी अगर मालूम होता कि यह हथ लायेगी तो मैं उम्र भर की नींद त्याग देती--आखिर अब त्यागी ही है! कहां सो पायी हूं तब से एक दिन भी बेखटका होकर! सिर्फ वह पल भी अगर मुझे बरी रखता--बेनीदा छोड़ देता तो जिन्दगी का नक्शा कितना फर्क होता! मेरा नटखट अंशु अभी वैसे ही अठखेलियां कर रहा होता। उसकी नटखट आंखों में वही पहचान होती जो हम दोनों के रिश्ते की नींव में सीमेंट चढ़ी ईंटों की तरह मजबूती से जम चुकी थी। वह मेरे पुकारने पर किलकारता और मैं उसके चीखने-चिल्लाने पर जब आंखें तरेरती तो वह मुझे ललकारता सा और चिल्लाता। वे सारे खेल किसी अनजान डर से सहम कर अचानक बुझ गये। अभी भी मैं बार-बार अपनी आवाज सुनती हूं जो हर तरह से बेअसर साबित होती है--न तब कुछ असर हुआ न अब कभी होने की गुंजाईश है। लेकिन तब मैं उसे शैतानी करने से रोकती थी और अब इंतजार करती हूं कि कब वह फिर से अपनी शरारतों का हुजूम इकट्ठा कर दे कि मैं उसके शोर में अपने-आप को खो दूं! मेरे कान हर पल उसकी चिल्लाहटों का इंतजार करते रहते हैं, मेरी आंखें हर पल उसकी नजरों में चंचलता, शोखी--यहां तक कि हैवानियत देखने को तैयार --तरस जाती है! कितना अजीब लगता है जो किसी का इतना पहचाना रूप हो--वह पल भर में इतना बदल जाये कि उस पुरानी छवि का कहीं नामोनिशान तक न मिले! जबकि आंखों को उसे देखने की इतनी आदत हो जाने के बाद हर नये बदलाव का आदी होने में कितनी तकलीफ होती है। तब बार-बार बस एक हूक सी उठती है कि काश वो पहला रूप देखा ही न होता। साथ ही कभी यह लगने लगता है कि अच्छा हुआ कि कुछ तो देख लिया --कम से कम मीठी सी याददाश्त तो है-- उजाड़ देखकर बहार की याद दिलानेवाली बात का कुछ तो महत्व होगा ही। शायद मन को यह सोचकर भला लगता है कि हमेशा ऐसा नहीं था और इससे यह उम्मीद भी बन जाती है कि हमेशा ऐसा रहेगा भी नहीं --- कि कुछ शायद सुधार होगा ही। इसी उम्मीद को कसकर पकड़े मैं सब कुछ झेलती रही। झेलती रही, तब भी और अब भी।



घर पहुंचा था कक्कू कई घंटों के बाद। चेहरे पर का सारा रस रंग सोख कर जैसे किसी ने मुर्दे का नक्राब पहना दिया हो। आंखें सूनी-सी शून्य को ताकती हुईं! एक भावहीन, बेजान, आतंक से जमा चेहरा। उसने मेरी तरफ देखते हुए भी जैसे देखा नहीं था। वह जैसे कहीं देख ही नहीं रहा था। उन आंखों का सिर्फ वहां होना था--बिना किसी मकसद के।

पिताजी के चेहरे पर परेशानी, उद्विग्नता और एक अनकही पीड़ा की कितनी ही छापें। वे भी किसी से आंख नहीं मिला रहे थे--जैसे कि काम चाहे उनसे पूछ कर किया गया था, फिर भी उनकी मर्जी के खिलाफ था-- और अब वे किसी को दोष देने लायक नहीं बचे थे! चाचा गाड़ी से उतरे नहीं, इंजन तक बंद नहीं किया। क्लच दबाया और पिताजी से यह कहते हुए कि घबराना मत सब ठीक हो जायेगा, गाड़ी को फर्राटे से उड़ा कर ले गये।

मैं बरामदे से ही अवाक खड़ी देख रही थी। मां अंदर रसोई में थी। अंदर से रुकती-रुकती गति से जब तक मैं पिताजी तक पहुंची, कक्कू मुझे अनदेखा कर अपने कमरे की ओर बढ़ चुका था। मैंने धीरे से पिताजी से पूछा-

"क्या कहा डाक्टर ने-----"

"इलेक्ट्रिक शॉक दिया है ----कहने लगा कि आज ही इलाज शुरू हो जाना चाहिये--- देरी करने से हालत बिगड़ सकती है।"

"तो ---ओह--"

"क्या----कुछ....?"

"उसका चेहरा बड़ा चुपचुप सा लगा.....बात भी नहीं की मुझसे"

"हां..तब से चुप ही है "

"मैं जरा बात करूं उससे"

मैं उसके कमरे में गयी तो वह बिस्तर पर लेटा हुआ था।

"क्या बात है कक्कू---

"इट वाज वैरी पेनफुल। सोने दो मुझे।"

कुछ दिन बाद कक्कू एक सुबह उठा तो लगा उसके चेहरे पर खालीपन नहीं था..एक शांत मुस्कान थी....एक नयापन सा था उस चेहरे पर।

"आज फिल्म देखने चले कक्कू ? देवानंद की नयी फिल्म लगी है"

देवानंद उसका मनपसंद अभिनेता था लेकिन कक्कू ने मेरी बात पर ध्यान नहीं दिया था। वह ड्रेसिंग टेबल के आइने में अपनी सूरत देखने लगा।

"आज बाल कटवाउंगा , बहुत बढ़ गये है "

वह मां से पैसे मांगने के लिये आवाज देता हुआ कमरे से बाहर हो गया। एक मौज सी थी उस चेहरे पर--जो कहां से उठती है या क्योंकर उठती है और कहां जाकर टूटती है--यह सब मेरी समझ के बाहर था।

शाम को वह अपनी किताबें और नोट्स उलट-पुलट रहा था।

"दीदी कोइ नयी नोटबुक है तुम्हारे पास ?"

"किसलिये चाहिये ?"

"कल कालेज ले जाना चाहता हूं "

"कल जायेगा कालेज तू----?"

"हां..इतने दिन मिस कर दिया...

मन में कहीं जैसे एक किरन सी फूटी। कक्कू फिर से कालेज जाने लगेगा तो शायद सब ठीक ही हो जाये!

अगले दिन वह कालेज गया भी। उसके बाद भी कुछेक दिन जाता रहा। पर उसने हमसे कालेज के बारे में हम से कोई बात नहीं की। कुछ पूछने पर हां-हूं कर के टाल देता। एक दिन मैं कुछ कुरेदने के मूड में थी-

"तेरे क्लासफेलोज ने पूछा नहीं कि इतने दिन कहां था....?"

"कौन से क्लासफेलोज ?"

"तेरी क्लास के लड़के--और कौन?"

"मैं नहीं जाता किसी क्लास में!"

"तो तू कालेज में करता क्या है?"

"वो लोग अजीब तरह से देखते हैं..."

"क्या मतलब?...."

"दीदी ..वे अच्छे लोग नहीं हैं"

कक्कू की आंखों में डर और तकलीफ का एक मिलाजुला भाव था।

"ऐसे क्यों कहता है तू...?"

"बड़े---वो क्या....बेरहम---सखतदिल है..

"टीचर से मिला था तू...?"

"नहीं..वह बहुत दूर होता है।"

बड़ा अजीब सा लगा था यह जवाब...मैं कुछ पल सोचती रही।

"मैं चलूं तेरे साथ...जाने को पिताजी भी जा सकते हैं"

"नहीं -नहीं , बिल्कुल नहीं...तुम उनके पास नहीं जाना।"

"लेकिन कक्कू ऐसे कैसे चलेगा....टीचर से बात तो करनी ही पड़ेगी...इम्तहान में यूं वह बैठने भी न दें...."

"ठीक है, ठीक है। मैं कर लूंगा बात। तुमने कालेज में नहीं जाना। पिताजी की भी जरूरत नहीं "

कक्कू शायद कालेज की इमारत में गया भी नहीं था क्योंकि अगले दिन मैं अपनी क्लासें बीच में ही छोड़ कर उसके कालेज गयी तो वह मुझे कालेज की चहारदीवारी में लेकिन मुख्य इमारत से दूर , किसी सूने से कोने में घूमता दीखा। उसने मुझे देखा नहीं, न ही मैं दीखना चाहती थी। पर उस दिन मन बड़ा उद्विग्न सा हो गया था---सोचती रही क्या करूं--  
-क्या करना चाहिये मुझे!

मेरे कुछ करने-कहने से पहले ही कक्कू ने झूठ मूठ का कालेज जाना भी बंद कर दिया। यूं चाहे उस तरह से जाने का कोई मतलब था भी नहीं पर कहीं न जाने का मतलब यह भी तो था कि घर में सारा दिन बंद पड़े रहना। एक अनचाही सी स्थिति फिर से पैदा होने लगी।

एक दिन अचानक वह मुझसे बोला- "दीदी, वो फोन मिला था?"

"कौनसा फोन...?"

"वही...उस लड़की का.....

"किस लड़की का?"

"वही.....जो बचपन में मेरी सहेली थी"

"कौन सी सहेली ?"

मैं जानबूझ कर इस बात को रफा-दफा करने की कोशिश कर रही थी।

"दीदी तुम्हीं तो कहा करती थी कि वह मेरी सहेली थी...उससे मेरी शादी होनी थी!  
मैं तो उसको प्यार करता हूं।"

"वाट नॉनसेंस! वह तो बात की बात थी। तुम तो खामखाह उस बात को सीरियसली ले रहे हो।"

मैने कक्कूको डपट दिया तो वह चुप हो गया।

पिताजी ने फिर से उसे उसी हालत में बार-बार पकड़ा। पिटायी हुई। वह "मारो मत, मारो मत " दुहराते हुए कहता रहा "फिर कभी नहीं करंगा, फिर कभी नहीं करंगा"।

पिताजी ने अपने भरोसे के एकाकी पात्र चाचाजी से बात की। फैसला हुआ कि दुबारा बिजली के झटके लगेंगे। सवाल अब कक्कू को मनाने का था। पिताजी ने डॉक्टर के पास जाने की बात की तो उसने साफ इंकार कर दिया।

"वो फिर से बिजली के शॉक लगायेगा। ना, बहुत दर्द होती है।"

"इस बार उससे कहेंगे कि शॉक नहीं लगायेगा। तुम चलो तो"

इस बीच भैया छुर्ी पर आये तो किसी तरह मनाकर कक्कू को सायकेट्रि स्ट के पास फिर से ले जाया गया। बिजली के झटके दुबारा लगे।

उसे भैया और पिताजी का और भी डर पड़ गया था। जब वह उनकी ओर देखता तो मुझे उसकी आंखों में भय और संदेह की छाया दीखती।

पिताजी उसे समझाने की कोशिश करते-

"बेटे एक बार ठीक हो जाओगे तो फिर नार्मल ज़िंदगी शुरू कर सकोगे..."

"मैं ठीक तो हूं...क्या हुआ है मुझे....."

"डाक्टर कहता है कि अगले हफ्ते फिर जाना होगा उसके पास...."

"डाक्टर को कुछ नहीं मालूम...इतनी जोर से शॉक लगाता है....मैं नहीं जाऊंगा उसके पास"

"जाना तो पड़ेगा ही कक्कू, और ईलाज भी क्या है। मंगलवार की अप्वांयटमेंट ले रहा हूं...तब तक तेरे रघु भैया भी यहीं हैं।"

पिताजी ने अपना फैसला सुना दिया था। वे जब भी इस तरह निर्णयात्मक ढंग से अपना फैसला सुनाते तो कक्कू सहमकर चुप हो जाता था। अभी भी उसने विरोध नहीं किया पर एक हैरत की निगाह से उन्हें देर तक घूरता रहा।

+ + + + + + +

सोमवार शाम जब मैं कालेज से घर आयी तो कक्कू घर पर नहीं था। रात खाने की मेज़ के इर्द-गिर्द बैठे चुपचाप खाना भी खा लिया गया और कक्कू तब भी नहीं पहुंचा तो मां को बेहद फ़िक्र होने लगी। पिता जी कुछ अस्वस्थ सा महसूस कर रहे थे, बोले-"सिवा इंतज़ार के फिलहाल और कुछ नहीं किया जा सकता।"

रात के बारह बजने को हुए तो तब तक कोई नहीं सोया था। मां कहने लगीं कि पुलिस स्टेशन फोन कर दिया जाये पर फिर भैया समझाने लगे कि फालतू में दुनिया-जहान में ढिंढोरा पिटेगा, सुबह तक इंतज़ार कर ही लेना चाहिये। अगर नौ-दस बजे तक नहीं आया तभी छानबीन करेंगे।

उस रात कोई भी ठीक से सोया नहीं था। बार-बार किसी न किसी के उठकर बाथरूम जाने की आवाज़ आ जाती थी। मुझे सिर्फ एक डर था...कक्कू कहीं कुछ अपनी हानि न कर बैठे। जिस डर, आशंका और अवसाद की स्थिति में वह जी रहा था उसका अंजाम क्या हो सकता है...इसकी कोई सही कल्पना करने की भी सामर्थ्य मुझमें नहीं थी।

ठहरे हुए आंसू की बूंद सी उस सुबह को मां जब अपने रक्त से आप्लावित करने को तैयार ही थीं कि फोन बजा। मौसी बता रही थीं कि कक्कू उनके यहां पहुंचा हुआ है। यूँ मौसी के यहां हमसे किसी का भी आना जाना बड़ी आम सी बात थी। फिर भी कक्कू के इस तरह अचानक आने से हैरानी तो मौसी को भी हुई। पर उन्होंने इस को कोई तूल नहीं दी, सुबह जब कक्कू ने ही घर पर किसी से न कहने का ज़िक्र किया तो मौसी को लगा कि सब फिक्र न कर रहे हों इसीसे फोन कर दिया। मां को अब चैन था और पिताजी को गुस्सा। वे उसे डाक्टर के पास ले जाने के लिये छुड़ी लेकर बैठे हुए थे। मौसी से बोले कि कक्कू को कहे कि जल्दी घर आ जाये। पर कक्कू ने न तो फोन पर बात की, न ही वह वापिस घर आने को तैयार था। मौसी से कहता रहा "उनसे कुछ मत कहो। वे मुझे ले जायेंगे।"

मौसी से सब कुछ छुपा था। वे हैरान हो रहीं थीं कि कक्कू कह क्या रहा है..कहां ले जायेंगे। वे पिताजी को उपदेश देने लगीं-"लगता है आपने इसे बहुत मारा है...इतनी भी क्या बात है...बेचारा डरा पड़ा है...बच्चों से गलतियां तो होती ही हैं पर इतना तो नहीं मारते कि वे घर से भाग जायें।"

मां या पिताजी ने इस बारे में कुछ नहीं कहा। दोपहर भैया और पिताजी खुद मौसी के यहां से कक्कू को लिवा लाये।

डाक्टर या अस्पताल का नाम अब घर में ममनू था। कक्कू के बारे में बात अब कक्कू से छुप कर ही होती।



कक्कू सुबह तैयार होकर कालेज जाने की बात कह निकल जाता। पिताजी की आंखों के आगे पड़ने से वह बचता था..अकसर खाना अपने कमरे में ही मंगवा लेता कि उसे पढ़ना है..और इस तरह मेज़ पर हम सबका सामना करने से भी बच जाता। अकसर पिताजी को आगबबूला कर देने वाली हरकत वह दुहराता और मार खाता पर इस पर जैसे उसका बस ही नहीं था।

हम सब यह महसूस कर रहे थे कि कहीं कुछ सही नहीं है...पर यह भी लगता था कि डाक्टर के पास जाकर शायद कुछ भी न हो या शायद बात और भी बिगड़ जाये। सब अपनी-अपनी समझ के मुताबिक कुछ न कुछ करने की कोशिश करते। मां कक्कू को बादाम रगड़-रगड़ कर पिलाती कि उसका दिमाग तेज़ हो। पिता जी का जी उचाट हो जाता तो चाचा से मिलने चले जाते कि वही कुछ रास्ता दिखलायें...पर वे अस्पताल भेजने के इलावा और कोई सुझाव नहीं दे पाते थे। पिताजी की तबीयत ढीली-ढीली सी रहने लगी थी। उन पर हर पल कक्कू का फिक्र सवार रहता।

मुझे एक तरह से यह विश्वास हो चला था कि कक्कू के इस व्यवहार की जड़ में उसकी यौन-अतृप्तियां हैं। उन दिनों मैं मनोविज्ञान की किताबें बड़ी दिलचस्पी से पढ़ा करती थी और सबसे बड़े मनोवैज्ञानिक फ्रायड के सिद्धांतों का ही हर तरफ बोलबाला था। मेरा भी गुरु वही था। कहीं उसी के आधार पर कक्कू को लेकर मैं यह मानने लगी थी कि यौन अतृप्ति ही कहीं उसमें मानसिक असंतुलन पैदा कर रही है और फिर मैं बेहद बेचैन होने लगती कि एक इस वजह से उसकी ज़िंदगी तबाह होने देना तो भारी मूर्खता होगी। यूँ अपने-आप से भी ऐसी बात कहने में मुझे झिझक सी होती फिर भी इतना तो समझ में आता था कि ज़िंदगी हर कानून, हर ममनूआ या नियम से बड़ी है और मुझे तो कक्कू की ज़िंदगी को बचाना है, तब समाज का कोई भी मूल्य चाहे जितना भी बड़ा हो--कक्कू की ज़िंदगी से बड़ा तो कुछ नहीं हो सकता! तभी एक दिन मां-पिताजी से बात करते मैंने कहा था-

"इसको किसी वेश्या के पास क्यों नहीं ले जाते!"

चौककर मां ने कहा था-"क्या S S क्या बक रही है तू?"

फिर पिताजी की ओर मुखातिब होकर बोलीं-"इसका तो दिमाग खराब हो गया है।"

"शर्म नहीं आती तुझे! यही सीखती है कालेज में! तू भी छोड़ कल से कालेज। देख रही हूँ दिन पर दिन बेशर्मी की बातें ही सीख रहे हो तुम लोग। पता नहीं कैसा ज़माना आ गया है! कैसे-कैसे लच्छन हो चले हैं बच्चों के!"

मां को कहीं मेरी बात चुभ भी गयी थी। बोलीं-

"लुच्ची कहीं की। अपने भाई के लिये तेरे मुंह से ऐसे वाक निकले कैसे!"

वेश्या का नाम भर लेने से मां वेश्याई के प्रति अपना सारा गुस्सा, विरोध और नफरत मुझ पर निकालने लगीं और मुझे आवारा, रंडी और कंजरी के जाने कितने ही खिताब दे दिये। पिताजी ने मेरा तर्क समझते हुये भी मेरी तरफदारी नहीं की थी। बस कहा-  
" बेटे थोड़ा सोच समझ कर बात किया करो "

मैने तो फिर भी ज़िद करके कहा था-

"मुझे एकदम भरोसा है कि इस तरह वह ठीक हो जाएगा।"

"चलचल ज्यादा बोल मत। दो किताबें क्या पढ़ लीं, सोचती हो कि तुम डाक्टर से ज्यादा जानने लगी हो "

जब पिताजी ने भी मेरी बात को रद्द कर दिया तो मुझे लगा यह पीढ़ियों की अभेद्य दूरी थी जिसे पाटना अकेले मेरे बस की बात नहीं थी। यूं मेरी बात भी कितनी सही या अव्यवहारिक थी, यह तब मैं खुद भी कहां समझती थी।

पर मेरी बेचैनी और भी बढ़ गयी थी--मैं किस तरह समझाऊं इन लोगों को कि इस तरह की अतृप्तियां क्या क्या बवंडर ला देती हैं इंसान की ज़िदगी में। मैंने खुद ऐसे उबालों को झेला था और किसी तरह शादी तक के एक लंबे इंतजार के लिये खुद को तैयार किया हुआ था--जानती थी समाज का ढांचा तो बदला नहीं जा सकता--पर खुद को तो ढाला जा सकता है--कितने मुलायम और लचीले धातु से बनी थीं हम लड़कियां। कालेज में सहेलियों के साथ लड़कों के बारे में बातें करना, एक दूसरे को किसी लड़के के बारे में छेड़ देना, रास्ता चलते लड़कों से मिली फब्तियों को रस ले-ले कर एक दूसरे को सुनाना या फिर फिल्मों के गीतों और अभिनेताओं की भाव मुद्राओं की चर्चा कर-करके मज़े लेना--इन्हीं में हमारी यौन इच्छाएं संतोष खोज लेती थीं। पर कक्कू का तो दोस्तों का ऐसा कोई समूह भी नहीं रहा था---शायद इसीलिये उसे सब कुछ अपने भीतर ही---अपने शरीर के माध्यम से ही खोजना था।

क्या मैं अपने भाई की कुछ मदद कर सकती हूं--ऐसा मैं अक्सर सोचा करती थी। मेरा दायित्व क्या है--क्या है उसकी सीमाये या घेरे? क्या मैं उसकी स्थिति बतलाये बिना उसे किसी लड़की से मिलवा सकती हूं.....क्या कोई लड़की उसकी हालत जानकर उसे चाह पायेगी.....पर मैं किसी लड़की को भी किसी तरह की परेशानी की हालत में कैसे डाल सकती हूं! इससे बेहतर यह नहीं कि मैं खुद ही को हाज़िर करूं...? क्या होता है भाई बहन का रिश्ता...? क्या भाई के बचाव के लिये शरीर का इस्तेमाल घोर अनैतिकता ही कही जायेगी--और कोई व्याख्या नहीं हो सकती इस कर्म की! यूं सोचने को तो मैंने भी सोच लिया पर क्या सच में अपने भीतर कुछ हिम्मत जुटा सकती हूं? क्या परिवार और समाज के नियमों को तोड़ दूसरों की हिकारत भरी नज़रें सहने की ताकत है मुझमें !

यूं बहुत बचपन में मेरे और कक्कू के बीच कुछ घट चुका था। चार-पांच साल से ज्यादा उम्र नहीं रही होगी मेरी। जो हुआ वह सब अज्ञान और अचेतन के अंधकार में ही हो सकता था...उसकी सिर्फ एक धुंधली सी याद है ...पर उस याद में तो सिर्फ एक भोलापन है..किसी तरह का मैल या मलाल नहीं....कोई अनैतिकता का अहसास नहीं। ----दोपहर में सब सो चुके थे...मैं और कक्कू बैठक में खेल रहे थे...अचानक खेल-खेल में ही हम एक दूसरे के अंग छूने लग गये थे ..अजीब सा कौतूहल जाग गया था एक दूसरे के प्रति...एक दूसरे को छूकर जानने का...अपने और दूसरे के फर्क को पहचानने का। इतना अहसास शायद तब भी था कि ऐसा किया नहीं जाता ...तभी सबसे छुपकर दोपहर के सूने में ही ऐसा हो पाया था। फिर भी मुझे हम दोनों की वह हरकत बहुत भोली, बड़ी निर्विकार लगती है। भाई बहन के रिश्ते की पावनता की बात तो बहुत बाद में जाकर समझ में आने लगी थी। तब तो था मात्र कौतूहल--नर-मादा का वह शुद्ध आदिम आकर्षण जिसे सौंदर्य और कुरूपता दोनों के कितने ही जामे कितने रूप-रंगों में पहनाये गये। कुछ नज़रों के लिए यह भी एक कुरूप ही हरकत थी...पर उस कुरूपता का अहसास मुझे तो तब नहीं था...और कक्कू तो मुझसे भी दो साल छोटा था। पर जो सहज कौतूहलवश हुआ..वह होना तो प्राकृतिक है....उसमें कुरूपता, अनैतिकता या अनौचित्य को खोजना क्या फिज़ूल की बात नहीं!!

लेकिन आज...अपनी सोशल कंडिशनिंग के बाद क्या मैं किसी ऐसे व्यवहार को सहज मान सकती हूं?...और सहज मानकर उसमें प्रवृत्त हो सकती हूं ! सहजता का सवाल शायद यहां उठता नहीं...क्योंकि इस वक्त मेरे भीतर केवल पीड़ा और सहानुभूति है.....कोई कौतूहल नहीं। एक स्नेह की विवशता है! क्या इस विवशता में इतना ज़ोर है कि वह मेरी सारी सोशल कंडिशनिंग के खोल को फोड़ कर सक्रिय हो सके! गुबार तो बहुत बार उठे....सबकुछ तोड़फोड़ देने को भी कई बार तैयार हुई। परंतु बस यूं ही भीतर ही भीतर उठकर सब दब गया। डरपोक थी मैं ...कुछ नहीं हुआ मुझसे। जिस घर में वेश्या का नाम भर लेने से इतनी भारी प्रतिक्रिया हो जाये ....वहां मेरी इस हरकत से न जाने क्या हो जाता!!!



पिताजी ने कक्कू को बदलाव के लिये दीदी के पास शिमला भेज दिया। दीदी से पिताजी ने कहा था- "इसका पढ़ाई-वढ़ाई में मन नहीं लगता, सारा दिन आवारागर्दी करता है। अगर शिमला में इसे कोई कालेज वगैरह पसंद आ जाए तो देख लेना...वहीं बोर्डिंग में डाल देंगे।"

दीदी खुश थीं ..और उनकी बेटियां भी मामे के आने पर उत्साहित। कक्कू दीदी के पास जाने को एकदम तैयार हो गया था। शायद उसे खुद को ही भीतर कहीं बदलाव की ज़रूरत महसूस होती होगी। यूं दीदी के यहां घर का सा सुख होते हुए भी पिता जी के अनुशासन का बंधन नहीं था। इसलिये उनके यहां जाना हम सब को अच्छा लगा करता था। यह बात नहीं कि दीदी अनुशासनप्रिय नहीं थीं। पर हम चूंकि उन्हें कभी कभी मिलते थे इसलिये हमारा लाड़-चाव ही होता था। अनुशासन का दायित्व पिता जी का ही था।

दीदी को कक्कू में कुछ भी अस्वाभाविक नहीं लगा था। वह बच्चों से खेलता , उन्हें साईकिल पर बैठाकर बाज़ार और पार्क घुमाने ले जाता। फिर कुछ दिन बाद उन्होंने नोटिस किया कि वह अक्सर चुपचुपीता या अपने-आप में खोया खोया सा हो जाता है। पिताजी को खत में दीदी ने लिखा भी था- " कक्कू को पता नहीं क्या हो गया है...कुछ खाने-पीने की सुध नहीं रहती। मैं नाश्ता मेज पर लगाकर इंतज़ार करती रहती हूं..बार-बार आवाज़ें लगाती हूं...वह आता ही नहीं...ग्यारह-ग्यारह बजे तक सोकर नहीं उठता। ..किसी चीज का होश ही नहीं होता, न नहाने का न खाने का। अक्सर मैं कुछ पूछती हूं तो जवाब ही नहीं देता। ऐसे खाली देखता रहता है जैसे कुछ सुना ही न हो। क्या आपके पास भी ऐसा ही करता था...या ये किशोर उम्र की भी समस्या हो सकती है....मुझे तो कुछ अजीब सा लगता है इसका व्यवहार।"

इसके बाद कई बातें और भी हुईं जिनका जिक्र दीदी ने मिलने पर किया था.....कि कक्कू रात के दो-दो बजे तक सोता नहीं था। एक रात बत्ती जलती देखकर वे कमरे में आयीं तो कक्कू एक पत्रिका में किसी इश्तहार की मॉडल की तस्वीर में आंखे गड़ाये था। दीदी को देखते ही बोला- "दीदी ये वही लड़की है।"

"कौन सी लड़की ?"

"इसे मैं जानता हूँ...इससे दिल्ली में मिला था"

दीदी को कुछ सिर-पैर समझ में नहीं आया था। पर उनको कक्कू के चेहरे का भाव कुछ अजीब सा लगा था। जीजाजी भी आवाजें सुनकर बिस्तर से उठ आये थे। उस रात के बाद से उन्होंने बेटियों को कतई कक्कू के पास न छोड़ने की सख्त ताकीद कर दी थी। अपने भाई के बारे में ऐसा सुनकर चोट तो लगी थी दीदी को...पर बेटियों की हिफाज़त के लिये वे कक्कू पर पूरी निगरानी रखने लग गयी थी। यूं भी कक्कू को लेकर उन्हें मां-पिताजी का अतिरिक्त लाड़-चाव ही याद था इसलिये वे कहती थीं-- "पिताजी के लाड़ ने ही कक्कू को बिगाड़ा है। वे क्लब में उसे साथ ले जाते थे , अंग्रेजी की फिल्में दिखलाते थे..कच्ची उम्र में बच्चों के दिमाग पर इन चीजों का बुरा असर पड़ता है.....अंग्रेजी फिल्में देखने की ही वजह से इसके दिमाग में इतना सेक्स घुस गया है कि वह कुछ और सोच ही नहीं पाता। शुरू से अगर अनुशासन में रखा जाता तो ऐसा कुछ नहीं होता। हम लोगों को तो पिताजी ने खूब दबाकर रखा था..तभी हम लोग ठीक से सेटल भी हो गये हैं। कक्कू को उन्होंने मनमानी करने दी। बच्चों को ठीक गाइडेस मिलना बहुत ज़रूरी होता है।"

एक ही परिवार में पल बढ़कर भी दीदी और मेरे नज़रिये में बड़ा फर्क था...शायद इसलिये भी कि उनकी और मेरी उम्र में पूरे दशक का अंतर था..पर कुछ सच्चाई शायद उनके कथन में भी रही हो !

दीदी का खत पाके हम सबको बड़ी शर्म महसूस हुई थी। पिताजी बोले-- "आखिर है तो अपनी ही बेटि। बता देना चाहिये था"

मां ने कहा था-"क्या बताते! यूं कुछ है थोड़े ही उसको"

मुझे भी लगा था कि बताने को था ही क्या! पिताजी ने यह तो बतला ही दिया था कि वह आवारा और गुमराह हो रहा है और इसी बदलाव के लिये ही तो उसे वहां भेजा गया था।

दरअसल हममें से कोई भी यह विश्वास न करना चाहता था कि कक्कू में कुछ ग़लत है। कहीं लगता था कि हमीं में.....शायद पिताजी में ...कुछ ग़लत था ...या फिर घर की हवा में...या शहर के माहौल में ऐसा कुछ था जो कक्कू को बिगाड़ रहा था और अगर उसे इस सारे परिवेश से हटाकर अलग कर दिया जाये तो शायद सब कुछ सही हो जाये। दीदी के पास उसे भेज कर हम कुछ ऐसी ही उम्मीद लगाये बैठे थे।

और दीदी के खत ने अपराध और शर्म का एक नया बोझ हम सब पर लाद दिया था!

साथ ही कक्कू के सहज होने की हमारी हर उम्मीद और संभावना के चीथड़े कर दिये थे।

कक्कू दीदी के पास से लौटा तो बहुत कमजोर हो गया था जैसे कि कोई गम उसे खाये डालता हो। घर में किसी से भी बात करने में दिलचस्पी नहीं थी उसे। अपने-आप में ही रहता।

उसके स्वास्थ्य को लेकर नयी फिक्र लग गयी थी मां-पिताजी को। मां पास बिठाकर किसी छोटे बच्चे की तरह खाना खिलाती उसे। पहले से बहुत कम खाने लगा था वह।

चाचा ने शहर में नये खुले एक प्राइवेट अस्पताल के बारे में बतलाया था जहां मानसिक रोगों के मरीजों का कुछ संवेदनशील इलाज होता था, जहां रोगियों को बिजली के झटके नहीं दिये जाते थे। मौखिक औषधियों द्वारा दिमाग के रसायनिक असंतुलन को सही कर इलाज किया जाता था। चाचा और पिताजी ने कक्कू को बड़े प्यार से यह बात समझायी थी और वह बिजली के झटकों के डर से बरी होकर इस अस्पताल जाने के लिये राजी हो गया था।

अस्पताल का बड़ा डाक्टर विदेश से पढ़कर आया था और मानसिक रोगों के इलाज में उसने जल्द ही शहर भर में अपनी धाक जमा ली थी।

पिताजी जब कक्कू को डाक्टर के पास ले गये तो लौटकर कक्कू भी खूब खुश दीखा " ये डाक्टर तो बड़ी अच्छी तरह, दोस्तों की तरह बात करता है"

एक दो विजिट्स के बाद डाक्टर ने सलाह दी कि कक्कू को अस्पताल में ही दाखिल करा दिया जाये। डाक्टर की करीबी निगरानी की जरूरत थी उसे। कक्कू को डाक्टर का स्वभाव बहुत अच्छा लगा था इसीसे वह झट से मान गया।

यूं वार्ड के दूसरे मरीजों की हालत कक्कू से कहीं ज्यादा बदतर दीख रही थी-पर डाक्टर के कहने पर जब वह रहने को तैयार हो गया तो फिर उसने कोई आनाकानी नहीं की जबकि वार्ड में घुसते ही कई लड़के आकर उसे घेरने लगे। उनके कौतूहल से उसे खीझ हो रही थी। एक बार उसने लाचार सी आंखों से हमारी ओर देखा और चुप हो रहा। जैसे उसने मन ही मन फैसला कर लिया था कि ये भी आजमा कर देख लिया जाये।

तीन चार हफ्ते में ही कक्कू बेहतर दीखने लग गया था। वह ठीक से खाने पीने लगा था और उसके गाल भी कुछ भर आये थे। यूं दुबला-पतला तो वह हमेशा से ही था पर जिस्म कमजोर नहीं दीखता था अब। पर उसे वार्ड के दूसरे मरीजों को देख-देख कर कुछ होता था।

हर रोज वह एक ही बात का इसरार करता-

"मैं ठीक तो हूं दीदी! मुझे घर क्यों नहीं आने देते?...क्या मैं तुम्हें इन सब पागलों की तरह दीखता हूं ....मुझे घर ले चलो।"

मेरा रो देने को मन हो आता। क्योंकि मुझे अंदाज़ था कि डाक्टर इतनी जल्दी छुफ़ी देगा नहीं।

कुछ दिन बाद कक्कू के लगातार जोर देने पर, डाक्टर ने कहा कि कक्कू अगर नियमित रूप से दवा खाता रहे तो उसे घर जाने दिया जा सकता है।

तब हमें इस बात का अंदाज़ नहीं था कि दवा खिलाना भी कोई मुश्किल काम हो सकता है। कक्कू को दवा पीने से सख्त नफ़रत थी। रोज़ कुछ न कुछ तरीका सोचकर उसे दवा पिलायी जाती। लेकिन घर उसके लिये ऐसी नियामत था कि बहुत दिनों तक तो हम उसे हस्पताल भेजने की धमकी देकर दवा पिला डालते रहे। हस्पताल के नाम से वह एक डरे हुये बच्चे की तरह चुपचाप दवा गटक जाता।

कक्कू ठीक होने लगा तो मैंने भी अपनी जिंदगी को बेफ़िक्र होकर जीना शुरू किया।

+ + + + +

बेफ़िक्र जिंदगी के पल कितने गिने चुने होते हैं। जब से अंशु पैदा हुआ, एक छन भी ऐसा नहीं गुज़रा जिसे बेफ़िक्र कह सकूं। पहले तो सिर्फ़ एक मां की भूमिका ही निभा रही थी, उसकी चोट के हादसे के बाद से परिचारिका की भूमिका और भी ज्यादा ज़िम्मेदारी की थी। अशोक कभी भी मेरी इस भूमिका के प्रति हमदर्द नहीं हो सका। उसे हमेशा लगता कि समस्या अंशु की इतनी नहीं थी जितनी कि खुद मेरी।

अंशु को हस्पताल से लाकर हम घर पहुंचे ही थे कि अशोक मुझसे तैयार होने का आग्रह करने लगा। उस शाम ताज होटल में पार्टी थी। अशोक ने अपनी बढ़िया सिल्क वाली कमीज और इटालियन डिजाइनर टाई पहनी थी।

"साढ़े आठ बज चुके हैं, तुम तो उठ ही नहीं रही---उसके सिरहाने ऐसे बैठी हो जैसे तुम्हारे बैठने से ही वह ठीक हो जायेगा "

"मेरा मन नहीं कर रहा जाने का "

"इतनी भी क्या बात है "

"अकेले छोड़ने का मन नहीं "

"रामसिंह तो है घर में "

"नौकरों से बीमार बच्चे की देखभाल होती है? कहीं दुबारा उससे गिर गया तो! "

"अब तुम फालतू में यही डर पाल लो कि दुबारा गिर जायेगा। डोंट बी सिली..चलो उठो जल्दी से तैयार हो जाओ..पहले ही इतने लेट हो रहे हैं "

"नहीं अशोक मैं नहीं जाउंगी...तुम्हे जाना हो तो जाओ। मैं इसे अकेला नहीं छोड़ सकती।"

वह पहली बार थी जब अशोक मेरे बिना किसी पार्टी में गया था। जाने से पहले वह फिर से बोला था-" अभी भी तैयार हो सकती हो तो बोलो। लेट चले जायेगे।"

"नहीं अशोक , मेरी जान तो अंशु में ही अटकी रहेगी, जाकर भी मैं किसी से ढंग से बात तो कर नहीं पाउंगी...तब फायदा क्या!"

"जैसी तुम्हारी मर्जी। पर मुझे तो जाना ही है...इस तरह घर में बंद हो गया तो अपना तो बिजनेस ही ठप्प समझो"

दो-एक बार फिर कुछ ऐसा ही हुआ था। उसके बाद से अशोक ने अकेले जाने की आदत ही डाल ली थी। वह मुझसे पूछता भी नहीं। मेरी और उसकी शामों का हिसाब अलग हो गया था। मुझे शिकायत नहीं थी उससे। बस मन में एक कचोट, एक कसक सी बार-बार उठकर रह जाती थी---"जिस आसानी से अशोक ने अंशु को मांस का लोथड़ा कह अपनी ज़िंदगी से निकाल दिया है...वैसा मैं तो नहीं कर पाती। जो ज़िंदगी मेरे लिये मेरी अपनी ज़िंदगी से भी ज़्यादा अहम और अज़ीज़ है वह क्योंकर उसके जनक के लिये ही मांस का ढेर बनकर रह गयी। क्या यह फर्क मेरे मां होने की वजह से ही था। मातृत्व क्या एक विवशता भर ही है। शायद विवशता ही हो---तभी तो कक्कू के हस्पताल से घर आने के तुरंत बाद मैं अपनी सहेलियों के साथ आगरा-जयपुर घूमने चली गयी थी। एक बेफिक्र छुट्टी मनाने के लिये। लेकिन मां तो ऐसा कभी नहीं कर पायीं। अक्सर उनको खामोश आंसू बहाते ही देखा। अक्सर उनको यह कहते सुना-"पता नहीं क्या गलती हो गयी हमसे..किसका क्या बुरा हो गया...अब संभाल लो भगवान....इसको सही दिशा दो।" मां हमेशा यही महसूस करती रही कि कुछ उन्हीं से गलत हो गया..पिताजी भी कहीं अपनी परवरिश में ही कोई खामी निकाल खुद को दोष दे लेते थे। सुधार और कर्मठता के गांधी युग में पले-बढ़े पिताजी के लिये अनुशासन, नियमबद्धता, आदर्शवाद, आत्मबलिदान और संयम ही सबसे बड़े मूल्य थे। अपने परिवार में चूंकि वे खुद सबसे बड़े थे। इसलिये दादा की मृत्यु के बाद सारे घर का बोझ अपने उपर ले लिया था। अपनी सौतेली मां की भरसक सेवा और सौतेले भाई बहनों की देखरेख में उन्होंने अपना सब कुछ लगा दिया था। उनका राजनैतिक आदर्श अगर गांधी थे तो पारिवारिक आदर्श थे मर्यादा राम। अपने सौतेले भाई बहनों और मां के प्रति वे वैसा ही व्यवहार करने की कोशिश करते। पिताजी ने ही चाचा को इंग्लैंड पढ़ने भेजा था। अब उन्हें लगता कि कुछ उन्हीं का दोष है...उनके नियम-संयम या अनुशासन में ही कोई कमी रह गयी थी जो कक्कू बिगड़ गया। इससे आगे वे ज़्यादा सोच नहीं पाते थे।



शायद इसीलिये मैं नहीं चाहती कि अब मुझसे कहीं कुछ और गलती हो या मैं गलती के अहसास की कचोट ही महसूसती रहूं। हर पल अंशु पर आखे टिकाये रखती...जैसे आंख हटाते ही वह कहीं ओझल हो जायेगा।

+ + + + +

आगरे में मैं सच में घर, मां-पिताजी, कक्कू--सबको भूल गयी थी। कार्तिक की चांदनी में रई के फाहों से हल्के हो आये ताजमहल की रमानियत के साथ अपने ख्यालों की उड़ान भरते हम किसी परियों के देश में पहुंच गये थे! उस परियों के देश में एक राजकुमार भी रहता था....पर अभी वह राजकुमार किसी गहरी नींद में सोया था। किसी एक नियत घड़ी में उसको उस गहरी नींद से जागना था और अपनी राजकुमारी की खोज करनी थी। राजकुमारी अपनी इस नियति से बेखबर खुद राजकुमार को जाने कौन-कौन से महलों में खोजती फिरी थी--गुलाबी महल, पंचमहल, जलमहल। पर राजकुमार का तो कहीं पता न था।

उस सारी सैर में सिर्फ सपनों की ही बातें और सपनों की ही छेड़छाड़ होती रही थी। हम जमीन पर एक पल को भी नहीं उतरे...वहीं बादलों में कहीं तैरते रहे।

लौटते हुए, बस में बैठे-बैठे अचानक एक उदासी सी मन में उतर आयी थी। यूँ ही बिना किसी संदर्भ के मैं अपने साथ बैठी अपनी सहेली स्मिति से कक्कू और पिताजी के बारे में बात करने लगी। इससे पहले मैंने अपनी किसी भी सहेली से कक्कू की हालत का जिक्र नहीं किया था। मैंने अपने आप को कहता पाया--"पता नहीं मेरे भाई को क्या हो गया है..बड़ा उखड़ा-उखड़ा रहता है। पिताजी को लेकर और भी फिक्र होती है कि उसके गम में उन्हीं को न कुछ हो जाये।"

बस अड्डे पर पहुंचकर डी.टी.यू. बस का इंतजार करने के बजाय मैंने श्री-व्हीलर लिया। घर पहुंचने की अजीब हड़बड़ी थी।

फाटक पर स्कूटर रुका तो अंदर से कोई बाहर झांकने नहीं आया जैसा कि आम तौर पर होता था। शाम का धुंधलका बढ़ रहा था। घर पर अजीब सूनापन सा घिरा महसूस हुआ। कोई भी बत्ती जल नहीं रही थी...कोई खटका नहीं। यहां तक कि रसोई घर से किसनू के खाना पकाने या बर्तनों की उठा-पटकी जैसी दिन भर आने वाली आवाजे भी खामोश थीं। बढ़कर मैंने खुद ही फाटक खोला और बरामदे तक का फासला तय करके पहुंची तो देखा दरवाजे पर ताला लगा था। मन में खटका सा हुआ, कहां चले गये सब लोग। मेरे पास तो घर की चाबी भी नहीं थी....घर तो हमेशा खुला ही होता था। मैं कुछ मिनटों तक यूँ ही ठिठकी खड़ी रही--क्या करूं...किससे पूछूं...पड़ोसियों को कुछ पता होगा..?

इतने में फाटक पर एक टैक्सी आकर रुकी। मैं डरी-डरी सी बरामदे से ही अंदाज़ा लगाने की कोशिश करने लगी। टैक्सी से उतरने वाले बड़े भैया और भाभी थे। मैं हैरान

थी..भैया -भाभी के आने का तो कोई प्रोग्राम नहीं था---यह अचानक कैसे बन गया! टैक्सी से सामान नहीं उतारा गया था इसका मतलब है कि वे स्टेशन से सीधे नहीं आ रहे थे।

घबराहट और असमंजस से सूखते मुंह से मैंने कहा-" आप लोग कब आये भैया! मुझे तो आपके आने का पता नहीं था। मालूम है कि सब लोग कहां है?"

भैया ने बड़ी नरमाई से मेरे कंधे पर हाथ रखते हुए कहा-"चलो, अंदर चलो, बताता हूं"

"चाबी है आपके पास"

भैया ने ताला खोला और हम अंदर आये। मेरा डर और बेचैनी छूट की बीमारी के कीटाणुओं की तरह हर पल हजारों की संख्या में बढ़ रहे थे।

"कक्कू कहां है? पिताजी, मां, सब कहां है?"

"घबराओ मत वे हस्पताल में है पर हालत कंट्रोल में है"

"कौन हस्पताल में है?"

"पिताजी!"

"क्या हुआ उनको?" कहते-कहते मेरी आवाज कांप रही थी।

"चाकू लग गया"

"चाकू....चाकू कैसे लग गया!"

"शायद वो कक्कू को जबरदस्ती दवा पिलाने की कोशिश कर रहे थे...गुस्से में आकर उसने उनके पेट में चाकू घोंप दिया"

"बहुत गहरा घाव है"

"हां...कुछ अंतड़ियां कट गयी हैं...आपरेशन हुआ है"

मुझे बहुत जोर से पछतावा होने लगा कि मैं छुिी मनाने गयी ही क्यों। मैं रहती तो ऐसा कभी न होता। और फिर अपने आप पर और मां पिताजी पर इस बात का गुस्सा आने लगा कि जब वह दवा पीने में इतनी तकलीफ देता था तो उसे अस्पताल वापिस क्यों न भेज दिया। मन को विश्वास ही न होता था कि कक्कू कभी ऐसा कर सकता है। पिताजी चाहे कक्कू के प्रति अपना स्नेह मुखर रूप से कभी प्रगट न भी कर पाये हों...पर उनकी जान कहीं उसी में तो अटकी रहती थी.....कक्कू क्या कभी समझ पाया होगा स्नेह के इस स्वरूप को!! पिताजी ही डाक्टर को मना-मनु कर उसे घर वापिस लाये थे.....ऐसा क्यों कर किया कक्कू ने।

"कक्कू है कहां?"

"पता नहीं, सुबह से लापता है"

"कहीं उसने अपने आप को तो नहीं कुछ कर लिया?"

"देखो शशि, अब इस वक्त कक्कू के बारे में फिक्र करने का कोई फायदा नहीं। वह जायेगा कहां.....घूम घाम कर घर ही लौटना है उसे।"

एक साथ दो हादसे हो गये थे और मुझे समझ नहीं पड़ रहा था किसका दर्द और बेचैनी मुझे ज़्यादा परेशान कर रहे थे। कभी पिताजी के लिये घबरा उठती तो कभी कक्कू के प्रति आक्रोश, फ़िक्र, उदासी और लाचार स्नेह और असमर्थता के भाव कौंध जाते।

"क्या उसको अंदाज़ होगा कि उसने ऐसा किया है?"

"मैंने कहा न शशि उसका फ़िक्र न करो। पुलिस को खबर है। वह उसे खोज लेगी"

"क्या पुलिस को सूचना दी गयी थी?"

"पुलिस के मुआयने के बिना वे पिताजी को इमरजेंसी में दाखिल ही नहीं करते थे। चाकू मारने की वजह से वह पुलिस केस तो बन ही गया था।"

"तो अब वह कक्कू को जेल में डाल देगे।"

मेरी आवाज की कंपकंपाहट फिर से प्रगट होने लग गयी थी।

"तुझे वह सब फिर्क करने की जरूरत नहीं है, मैं संभाल लूंगा"

यूं भैया भी पिताजी को कक्कू का ज़्यादा लाड़-चाव करने का दोषी ठहराते थे पर अब मुसीबत पड़ने पर बड़े बेटे की तरह सारा बोझ वे अपने कंधे पर लेने को तैयार हो गये थे।

भाभी रसोई में खाने का काम संभालने पहुंच गयीं थीं। पिताजी की देखरेख के लिये किसनू मां के पास ही हस्पताल में रुक गया था। मैं रसोई की ओर भाभी की मदद करने को बड़ी ही थी कि दरवाजे की घंटी बजी। भैया बाथरूम में थे। मैंने ही दरवाज़ा खोला। दो पुलिस के आदमी थे।

"आज सुबह वारदात हुई थी यहां?"

"जी...?"

"मुजरिम ने कत्ल की कोशिश की?"

"जी नहीं ..वो...वो..पिताजी को छुरी लग गयी"

"आप मुजरिम की क्या लगती है?"

"जी ..मेरा भाई है वो "

"आप वारदात के वक्त मौजूद थीं?"

"जी नहीं , मैं बाहर गयी हुई थी। अभी थोड़ी देर पहले लौटी। कक्कू कहां है?"

"मुजरिम का पूरा नाम क्या है?"

"कुमुद सेहगल। वह है कहां, आपको मालूम है?"

"वहीं थाने पर। हवालात में "

मैं पुलिस के अदमियों को देख वैसे ही घबरा गयी थी...हवालात के नाम से मेरे होशोहवास उड़ने लगे।

"जी उस बेचारे को तो अंदाज़ नहीं होगा....वर्ना ऐसा तो वो कभी कर ही नहीं सकता"

उस पुलिसवाले ने मुझे इस तरह देखा कि तुम औरतों से तो बात करना बेकार है।

"घर में कोई मरद है?"

"जी हां, बड़े भाई हैं मेरे"

"उनको बुलाइये"

"लेकिन वो यहां नहीं रहते। मैं रहती हूं। मुझे मालूम है कक्कू के बारे में। वह इस तरह का लड़का नहीं है...आजकल उसकी मेन्टल हालत....."

"ठीक है। वह सब आप मजिस्ट्रेट को बतलाइयेगा। हमको तो सिर्फ बयान दर्ज करना है। जरा अपने भाई साहब को बुलाइयेगा"

भाई साहब से उन्होंने कक्कू और पिताजी के बारे में कुछ और जानकारी ली। पुलिस के जाने के बाद भैया बोले- "ज़मानत कराके छोड़ा तो लाउंगा कक्कू को, पर अब उसका यहां रहना खतरे से खाली नहीं...वह किसी को भी मार सकता है"

कक्कू ने हम सब के साथ जैसे कि विश्वासघात किया था और उस पर से विश्वास उठाकर हम उसे उसके किये की सज़ा देना चाहते थे। पर क्या वह जानता था कि उसने विश्वासघात किया है!

बहुत कड़वी लगी थी भैया की बात जैसे कि किसी पराये की बात कर रहे हो। पर इस वक्त मैं खुद पिताजी के बारे में चिन्तित हो रही थी। भाभी ने जल्दी से कुछ खाना तैयार कर दिया था। मैं और भैया हस्पताल मां के लिये खाना ले जाने के लिये तैयार थे।

जब तक हस्पताल पहुंचे, अंधेरा खासा गहरा चुका था। हस्पताल के गेट के बाहर मद्धम रोशनी में मूंगफली और फलों की छाबड़ियों और रेड़ियों वाले अपना फैलाव समेट रहे थे। यूं सड़क के खंभों की बत्तियां तो जल रही थीं पर मुझे सारा माहौल बड़ा अंधेरा-अंधेरा सा लगा। हस्पताल के गलियारों में पीली बत्तियां टिमटिमा रही थीं...एक अजीब सी दवा और सीलन की मिली जुली गंध से रसे बसे उन गलियारों से गुजरते हुए मेरी घबराहट बढ़ रही थी। भुलभुलैया की तरह मोड़ खाते इन गलियारों और बरामदों को पार करते हम पिताजी वाले वार्ड तक पहुंचे।

मां कमरे के बाहर बेच पर बैठी आंख बंद किये शायद जाप कर रही थीं। किसनू उनके पैरों के पास बैठा उंच रहा था। मैने पास आकर धीरे से आवाज दी। मां जैसे सपने से जगी हों।

"तुम लोग कब आये"

"पिताजी कहां है"

"उन्हे अभी लाने वाले है"

तभी दो नर्स स्ट्रेचर को घसीटती हुई दूसरी ओर से आयीं। मां एकदम उठ खड़ी हुई। पिताजी को पहचानना एकदम मुश्किल था। कितनी ही नालियां उनके नाक और मुंह में लगी हुई थीं। बायीं बांह की नस में सुई के ज़रिये ग्लूकोज़ की बोतल चढ़ायी गयी थी। पिताजी अभी पूरे होश में नहीं थे। मैं उनके सिरहाने खड़ी देर तक उन्हे देखती रही। पिताजी ने आंख खोली तो सबसे पहले मुझी पर आंख पड़ी...हल्के से मुस्कराकर उन्होंने आंख बंद कर ली। मैने बुलाया तो दुबारा खोली। उनके ओंठ फड़फड़ाये-

"कक्कू का क्या हाल है।"

"वह ठीक है पिताजी"

"कहां है"

"घर पर ही "

मैने झट से कहकर उन पर से अपना चेहरा हटा लिया। इधर नर्स चिल्ला रही थी-  
"इतने लोग मरीज के पास नहीं ठहर सकते। आप लोग अब जाइये।"

## ७

अगले दिन अखबार में मोटी सुर्खियों के साथ खबर छपी हुई थी- "बेटे द्वारा बाप की हत्या--कल(२० अक्टूबर १९६२) दिल्ली शहर के एक युवक श्री कुमुद सहगल ने अपने पिता श्री रमेश कुमार सहगल के पेट में छुरा घोंप कर उनकी हत्या करने की कोशिश की। श्री रमेश कुमार को नाजुक हालत में हस्पताल पहुंचाया गया और श्री कुमुद कुमार अब पुलिस की हिरासत में है। घरवालों ने बताया कि श्री कुमुद कुमार की दिमागी हालत सही नहीं है और वे इस हादसे से पहले कई बार मानसिक रोगियों के हस्पताल में रह चुके हैं"

हमारे घर का कच्चा चिंता अब सब के सामने खुला पड़ा था। मैं मना रही थी कि आज के अखबार का यह हिस्सा किसी तरह हमारे जान-पहचान वालों की आंखों से अनदेखा रह जाये। शाम को अस्पताल गयी तो मौसी वहां पहले से मौजूद थीं। मां से बार-बार कह रही थीं- "घर में इतनी बड़ी बात हो गयी और तूने हमें बतलाया ही नहीं। हम कोई पराये हैं? मुझे तो तभी कुछ गड़बड़ लगी थी जब कक्कू बिना बताये हमारे घर आया था। पर आप लोगों ने तो कुछ भनक भी न पड़ने दी।"

पिताजी शाम तक पूरे होश में थे। बात करनी मुश्किल थी क्योंकि गले में नाली डले रहने की वजह से उन्हें खांसी सी उठ रही थी जिससे आपरेशन के बाद पेट में लगाये गये टांकों में बड़ी टीस उठती। मुझसे बस इतना ही बोले-"बस तेरे भाग से ही बच गया हूं। तुझे ब्याहने का काम बचा है न!"

फिर भैया से कहा-"कक्कू का ध्यान रखना बेटे, जब तक मैं यहां हूं देखना उसे कुछ हो न जाये।"

अगले रोज जमानत करके भैया कक्कू को घर ले आये थे और मजिस्ट्रेट की हिदायत के अनुसार उन्होंने शाहदरा के हस्पताल का पता करना शुरू किया जहां कि अपराधी और हिंसक मानसिक रोगियों को रखा जाता था और उनका इलाज किया जाता था।

कक्कू के जिस्म पर नील पड़े हुए थे। उसकी बांयी आंख सूजी थी जैसे कि किसी ने घूंसा मारा हो आंख पर। बांहों, कंधों और पीठ पर नील और खरोंचे थीं। एकदम गाय सा सिर झुकाये वह भैया के पीछे पीछे घर में चला आया था। मुझे देखते ही बोला-

"दीदी देखो कितना मारते हैं "

उसने बदन खोल -खोल कर मुझे अपने घाव दिखाये।

"क्यों मारा ऐसे तुझे"

मुझे गुस्सा और रोना एक साथ आ रहा था।

"पता नहीं बहुत सताया मुझे। सबने मारा"

थोड़ी देर बाद बोला-"पिताजी कहां है?"

"हस्पताल में"

"वो क्यों?"

"यूं ही ! तबियत ठीक नहीं थी।"

वह चुप होकर कुछ सोचने लगा। फिर बोला-

"पिताजी भी मुझे मारते हैं।"

"वे नहीं मारते। वे तो तुझे प्यार करते हैं। कैसी उल्टी बातें करता है तू।"

"नहीं तुम नहीं थी तो मारा , बहुत मारा।"

मैं खामोश होकर उसके चेहरे पर कुछ पढ़ने की कोशिश करती रही। वह चेहरा किसी डरे , सहमे और सताये हुए इंसान का सा दीख रहा था। उन आंखों में डर और संदेह के इलावा और कुछ नहीं था।

उस दिन मैं कालेज नहीं जा पायी थी।अगले रोज़ गयी तो मेरी सहेलियों को मेरे बताये बिना खबर हो चुकी थी। उन्होने खुद अखबार में नहीं पढ़ा था बल्कि एक लड़की से सुना था जो कि हमारी जान-पहचान की थी। उस लड़की ने कहा था कि लगता है यह खबर शशि के घरवालों की है। लेकिन मेरी सबसे पक्की सहेली स्मिति ने मुझे शायद शर्मिंदगी से बचाने के लिये मुझसे ज्यादा सवाल नहीं पूछे--सिर्फ एक दोस्ताना हमदर्दी जाहिर की। आगरा से लौटते उसे कुछ बता चुकी थी...तभी उसने पिताजी का हाल पूछना भी जरूरी समझा होगा। लेकिन शर्म और ग्लानि एक गीले कोट की तरह मेरे दिल-दिमाग पर लदे थे। न तो उसका बोझ संभलता था न ही परेशानियों की ठंड को रोकने में उससे कुछ मदद मिल सकती थी। ऐसी बातें तब तक सिर्फ दूसरों के बारे में ही सुनी थीं। बार-बार यही ध्यान आता कि लोग पता नहीं हमारे बारे में क्या सोच रहे होंगे। जैसे कि हर मिलनेवाले की आंख में बस यही एक सवाल हो और मैं आंख बचाने या उत्तर खोजने में लग जाती।

दोपहर घर लौटी तो एक गाड़ी गेट के बाहर खड़ी थी। मैंने पहचाने की कोशिश की कि किसकी गाड़ी हो सकती है पर एकदम कुछ पल्ले नहीं पड़ा। अचानक देखा दो सिपाही कक्कू को ज़बरदस्ती उसके कमरे से बाहर को खींच कर ला रहे थे। वह पूरा जोर लगाकर उनकी गिरफ्त से निकलने की कोशिश कर रहा था-"छोड़ दो मुझे ....छोड़ दो" वह पूरे गले से चिल्ला रहा था.."खबरदार..खबरदार..बचाओ..बचाओ"

भैया सिपाहियों की मदद करते हुए उसे समझा रहे थे - "मारेंगे नहीं तुझे ये लोग। सिर्फ हस्पताल लेकर जा रहे हैं।"

कक्कू की चीखें और भी तीखी और तेज हो रही थीं जैसे कि कोई उसे मार ही डाल रहा हो-- "नहीं जाना मुझे। ये मेरा घर है! मुझे क्यों बाहर निकालते हो। छोड़ो मुझे। छोड़ोSSSSSS!"

दायी ओर वाले घर के पड़ोसी अपने लान में खड़े हमारा तमाशा देख रहे थे। कक्कू भैया को देखता चिल्लाया था- "ये मेरा घर है। मुझे नहीं निकालो।" मैं पत्थर का बूत बनी खड़ी रही। यही सबका अंतिम फैसला था। कक्कू ने इलतजा भरी आंखें मेरी ओर फेरकर कहा था-- "दीदी इन्हें रोको न। इनसे कहो न मैं यहां रहता हूं-- ये मेरा घर है।"

सिपाहियों ने वैन के पीछे की ओर से उसे चढ़ाया। एक सिपाही कसकर उसके दोनों हाथों को पीठ की तरफ करके जकड़े रखा। दूसरे ने वैन का दरवाजा बंद कर दिया। जैसे किसी जंगली जानवर को पिंजड़े में कैद कर दिया जाता है--कक्कू भी पूरे बचे-खुचे जोर से दहाड़ता ही रहा।

वैन धूल उड़ाती अदृश्य हो गयी तब भी उन धूल से टकराती लाचार दहाड़ों का खामोश शोर मुझे देर तक सुनता रहा।

+ + + +

लाचारी का आलम तब भी था जब अंशु के साथ हादसा हुआ। लेकिन पता नहीं कैसे मैंने खुद ही यह फैसला कर लिया था कि खुद को लाचार नहीं होने दूंगी। औरों के किये फैसलों के हिसाब से चलना अब मेरी नियति नहीं थी। मां बन कर ही कई फैसलों के हक या तो खुद-बखुद मेरी झोली में आ पड़े थे या मैंने हथिया लिये थे। मां बनने के बाद ही हक पाने या हथियाने का एक अजीब सा आत्म विश्वास भी जैसे अपने आप ही मुझमें पैदा हो गया था। और यह भी समझ में आ गया था कि हक कोई थाली में परोस कर तो देता नहीं। उसे अपने सजग और कर्मठ फैसलों के जरिये कबूलवाना पड़ता है। इसलिये हक कुरबानी भी मांग सकता है।

जब अशोक दिन में बिजनेस और रातों को ब्रिज खेलने के लिये क्लब चला जाता तो मैं घंटों अंशु से बतियाती और इंतज़ार करती रहती कि कब वह मेरी बात सुनेगा, कब वह आंख खोल मेरी बात के जवाब में अपनी मुस्कान बिखेरेगा और कब माँ की बुलाहट देते हुये उसके ओंठ फड़फड़ायेगे। तब अक्सर यह भी लगता था कि शायद मैं सिर्फ दीवारों पर सर फोड़ रही हूँ। लेकिन जो पांच प्रतिशत उम्मीद भी बची थी मैं उसे पूरी तरह से निचोड़ लेना



चाहती थी। एक आहत और मजबूर मां के लिये हल्की सी संभावना भी रौशनी का एक अहम टुकड़ा बन जाती है।

अंशु ने जब आंख खोली थी तो ऐसा लगा था जैसे कि नींद से जागा हो। पर वह जगना इस दुनिया में पहली बार आंख खोलने जैसा था जबकि किसी तरह के भी रिश्ते का कोई अहसास नहीं होता। मुझे अंशु के साथ एक नये सिरे से मां का रिश्ता कायम करना था। मैं बार-बार उसे अपने होने का अहसास दिलाती रहती। --बार-बार कभी शब्दों से तो कभी स्नेह-सिंची मुद्राओं से--उसे छूकर, सहलाकर उन विस्मृति की परतों को हटा देने की कोशिश करती। अंशु खाली सी नजरों से मुझे ताकता रहता। फिर लगा कि वह मेरी बात सुनता तो है--बस बोल नहीं सकता---अपनी प्रतिक्रिया मुझ तक पहुंचा नहीं पाता। उसकी तीन सालगिरह मनायी जा चुकी थी जबकि उसके मुख से तीन माहा बच्चे के मा मा मा पा पा पा पा के स्वर पहली बार दुबारा से निकले। मेरी खुशी का तो जैसे कोई ओर-छोर ही नहीं था। मेरी तपस्या का, मेरे बार-बार बुलाने का आखिर जवाब आया तो! फिर धीरे-धीरे हम दोनो के बीच शब्दों की एक नयी--एक अपनी ही दुनिया बनती चली गयी जिसे बस हमीं दोनो समझते थे। अशोक के पास भी उस भाषा से वाकिफ़ होने की फ़ुरसत नहीं थी।

अंशु को मैं तरह तरह की तस्वीरें दिखाती, चिड़ियाघर के जानवर दिखाती और उनके नाम बोल-बोल कर उससे दुहरवाती। हम घंटों बगीचे में फूलों और सब्जियों की क्यारियों के बीच घूमते और उसे उनको छुवाती हुई मैं नाम बतलाती जाती। हर शब्द सही दुहराना उस के लिये आसान नहीं था पर वह कोशिश तो जरूर करता। भैया उसके लिये अमरीका से तरह-तरह के ब्लॉक्स लाये थे। उन आकारों को महसूसते वह नये आकार बनाता। जब भी कभी कोई छोटी सी नवीनता भी उन कोशिशों में दीखती--मेरे लिये वही जैसे एक बड़ी उपलब्धि होती।

छह साल का होने पर अंशु को मैंने स्कूल भेज दिया था। वह दूसरे बच्चों के मुकाबले कुछ रुक-रुक कर बोलता। पर तरह तरह के मूर्त उपकरणों के इस्तेमाल में वह बहुत जल्दी दक्षता हासिल कर लेता। हिंदी और अंग्रेज़ी अक्षरों की पहचान भी उसे बहुत जल्दी हो गयी थी। बहुत शुक्रिया अदा किया था मैंने उस छोटे से प्राइवेट स्कूल की प्रिंसिपल का। उम्र में बड़े होने पर भी उसने उसे नर्सरी में दाखला दे दिया था। अंशु तो स्कूल के नाम से ही किलक उठता था।

कुछेक महीनों बाद प्रिंसिपल ने बुलवा भेजा था उसे। जितनी तेजी से क्लास के बच्चे आगे बढ़ रहे थे अंशु उनके साथ नहीं चल सकता था। प्रिंसिपल ने कहा था-"आपका बच्चा खेल वगैरह में तो चल जाता है, पर पढ़ाई के मामले में रिस्पांड नहीं करता। हिसाब की क्लास में तो उसे एकदम पता ही नहीं चलता कि क्या हो रहा है।"

घबरायी थी मैं।

"जी में उसे घर पर मेहनत करा दूंगी। फिर जरूर ठीक चल पड़ेगा।"

मैं अंशु को एक जमा एक और दो जमा दो घर पर सिखाती रहती थी--बार-बार रटवाती। पैसों से, फूलों से--हम हर ठोस चीज का इस्तेमाल गिनती के लिये करते। पर अंशु बहुत कम याद रख पाता। उसे फूल का नाम तो याद हो जाता लेकिन गुलदस्ते में कितने फूल हैं यह न याद रख पाता। हर बार नये सिरों से गिनवाना पड़ता।

कितना सिर मारा था मैंने। पर सब बेफ़ायदा। आखिर प्रिंसिपल ने एक दिन सीधा कह ही दिया-"आय एम सारी मिसेज पुरी! आपका बच्चा यहां चल नहीं सकता। इसे कहीं और दाखिल करा दीजिये।"

जहां कहीं भी दाखिला दिलवाती बस यही हाल होता। पहले कुछ दिन तो अंशु निकाल लेता फिर उसकी सीमायें सब पर जाहिर होने लगती और स्कूल वाले उसे रखने से मना कर देते।

उसे हैडीकैप्ड बच्चों के स्कूल भी ले गयी थी। पर वहां तो बहुत ही बुरा हाल था। वे बच्चे कुछ सीखते ही नहीं थे। जैसे कि सिर्फ वक्तकटी के लिये ही उन्हें वहां भर्ती किया गया हो। जो खेल सकते खेल लेते आपस में, बाकी यूं ही निढाल और निकम्मे पड़े रहते। अंशु को इन बच्चों के साथ छोड़ देती तो न केवल वह पढ़ा-पढ़ाया भूल जाता बल्कि ये तो एक तरह से उम्र भर के लिये उससे किनारा कर लेना होता। क्योंकि वहां कुछ सीखने के बजाय वह विनष्ट ही होता। इसीलिये उसकी सारी शिक्षा का भार मैंने अपने कंधों पर ही ले लिया था।

अंशु मेरा सहचर, मेरा सुहृद बन गया था। वह दिन भर मेरे साथ जीता--खाना भी बनाता, बागवानी भी करता, खाने के समय मेज लगाता, सलाद काटता और बर्तन धुलवाता। काम के बाद हम साथ बैठकर तस्वीरें देखते, बैडमिंटन खेलते, फुटबाल खेलते और मोटे-मोटे हर्फों वाली किताबें पढ़ते। इस बात की हूक तो उठती कि अंशु से एक आम बच्चे की तरह डाक्टर या इंजिनियर बनने की उम्मीद तो मैं कभी भी नहीं रख सकती। फिर भी उसे एक सादी और भली आत्म-निर्भर जिन्दगी मिल जाये, यह भी कुछ कम नहीं था। इसीसे उसे स्वतंत्र बनाने की, अपने पैरों पर खड़ा करने की जिम्मेवारी निभाने में मैं पूरे जी जान से लगी हुई थी।

+

+

+

+

कक्कू के बारे में कभी इस तरह से सोचा-सूझा ही नहीं। या तो हम उससे पूरी तरह से सहज और सामान्य होने की उम्मीद करते या ऐसा न कर पाने पर वह अचानक कोइ और हो जाता। उसके भीतर भी एक अजीब सी कशमकश बनी रहती। घर पर रहने से उसे अपनी दुनिया सही और संतुलित दीखती। बाहर जाते ही, खास तौर से हस्पतालों की दुनिया

अनजानी-अजीब और साथ ही बड़ी कठोर लगती। उसकी लाचार आंखें बस यही कहती कि बस घर पर रह पाना ही मानो उसके लिये सबसे बड़ी नियामत थी।

जबकि हम सब के लिये ठीक इससे उल्टा होता। कक्कू के घर में होने से ही बहुत कुछ उखड़ा-उखड़ा और उदास हो जाता जैसे कोई अभिशप्त छाया हो जो हम पर..सारे घर पर मंडराती रहती हो। वह बाहर होता तो हम फिर से अपनी सहज ज़िदगी में लौट आने को झटपट तैयार हो जाते। कक्कू का ज़िक्कू कमसे कम किया जाता। लेकिन कहीं अवचेतन में वह हर पल बसा रहता...कितना कुछ तो उससे जुड़ा था जो बार-बार उसे सामने ले आता...उसका कमरा...उसके कपड़े..उसकी पसंद की खाने की चीज़ें। और सबसे बड़ी उपस्थिति थी उसकी अनुपस्थिति! वह घर का सबसे लाड़ला बच्चा था --सबके लाड़ और प्यार का केन्द्र। उसके न रहने से घर केन्द्ररिक्त हो जाता

भैया जब कक्कू से मिलने शाहदरा मानसिक रोगियों के हस्पताल जाने लगे तो मैने भी जाने की ज़िद की थी। पर वे माने नहीं।

"लड़कियां नहीं जाती ऐसी जगहों में !"

"लेकिन अपने भाई से मिलने में तो कोई हर्ज नहीं"

"नहीं अभी नहीं। पहले मुझे देख आने दे। पता नहीं कैसा माहौल होता है इन जगहों का "

भैया जब कक्कू से मिलकर लौटे तो उनका चेहरा उतरा हुआ था। एक अनजानी अपराध की सी छाया भी उस चेहरे को कांतिरिक्त बना रही थी। मुझसे उदास स्वर में बोले-

"पता नहीं ..ऐसी ही है वह जगह.."

"क्यों?"

"वहां तो एकदम पागल लोग बसते हैं"

"कक्कू कैसा था?"

"बहुत कमज़ोर लग रहा था। एकदम डिप्रेस्ड..डिजेक्टेड"

"उसको घर नहीं ला सकते?"

"डाक्टर से पूछा था मैने। कहता था कुछ ठीक होने पर ही वापिस भेज सकते हैं"

"कब तक ठीक होगा?"

"अभी कुछ नहीं बताते..सबका अलग-अलग होता है...पर कहता था कि कम-से-कम छह महीने तो लगेंगे।"

"मैं चल सकती हूं उसे मिलने!"

"तू न ही जा। तेरे जाने की जगह नहीं वह। तू नहीं देख सकेगी वह सब।"

भैया को अंदाज़ा भी न होगा कि जिस बदसूरत सच्चाई को देखने से वे मुझे बचा रहे थे वह कई-कई रूप लेकर अनचाहे ही मेरी आखों के आगे नाचती रहती...मुझे दीखती उंची-उंची सीखचों वाली जेलनुमा दीवारें....कक्कू उनके पीछे खड़ा ज़ोर-ज़ोर से धक्के मारता..हाथों से झकझोरता..फिर सिर टकराता...लहलुहान हो जाता। सिपाही उसे घसीट कर अंदर ले जाते...अंदर जहां बदबूदार, सीलन भरे कमरे होते...उसको उबकाइ आती ...खाने की थाली में रखे बेस्वाद सालन और सूखी रोटियां अनछूये पड़े रहते..उससे एक निवाला भी निगला नहीं जाता...कोइ पूछता भी नहीं कि उसने खाना क्यों नहीं खाया। फिर भूखे पेट उसे बिजली के करंट लगाये जाते ..वह निढाल सा पड़ा रहता ।

क्या कुछ धुंधले से ,अधूरे से चेहरे या उनकी छायाकृतियां उभरती होंगी उसके ज़हन में---मां का स्नेहिल आंचल ...या पिताजी का तना हुआ, अंगारे सा लाल चेहरा या कभी उदास -निराश चेहरा....शशि दीदी की प्रश्नाकुल आँखें.....किसी आम के पेड़ की सघन , चहकती छाया....ढेरों पहचानी चीज़ों से भरा अपना कमरा!! क्या होगा घर उसके लिये.?--कुछ चेहरे...कुछ लोगों की हस्ती का अहसास...कुछ अपनापन...कुछ पहचाना सा माहौल ..कुछ अपनी हस्ती का अहसास! या कि घर भी कोई काल्पनिक वस्तु या एक शब्द भर रह गया है उसके लिये.....शायद मिट चुका हो घर शब्द का अहसास भी!

क्या कक्कू मेरे बारे में कभी सोचता होगा जैसे कि मैं सोचती हूं उसके बारे में! विश्वास नहीं होता कि कक्कू के ज़हन में मैं कतई नहीं हूं...चलते वक्त उसने कैसे तो विनती की थी मुझसे---"दीदी इनसे कहो न ..यह मेरा घर है" क्या घर को...घर के प्राणियों को भूल गया होगा वह!



हस्पताल से लौट कर भी पिताजी को चलने फिरने लायक होने में काफी दिन लग गये थे। वे लगातार कक्कू से मिलने जाने की ही बात करते। भैया -भाभी लौट गये थे। पिताजी को ले जाने वाला कोई था नहीं। एक दिन मैं कालेज से लौटी तो मां ने बताया कि पिताजी स्कूटर चलाकर खुद ही शाहदरा चले गये थे।

पिताजी लौटे तो उनका अपना चेहरा ही थकान और फ़िक्र से काला पड़ा हुआ था। मां से बोले-"वह तो वहां कुछ खाता नहीं। कई दिनों से उसे बुखार चल रहा है। खांसी भी कर रहा था। बड़ा बुरा हाल कर दिया है इन लोगों ने।"

थोड़ी देर बाद कहा-"सुबह कुछ खाना बना देना। घर का खाना शायद कुछ खा ले। अपने सामने खिलाकर आउंगा।"

पिताजी की हालत ऐसी नहीं दीख रही थी कि वे सुबह दुबारा जा सकें। पर किसी के मना करने से कुछ होना भी नहीं था। सवाल भी तो कक्कू का था।

मां ने सुबह पांच बजे उठकर पकवान बनाने शुरू कर दिये थे, वे भी सिर्फ अपने हाथ से। कक्कू की मनपसंद बादाम की खीर, पूरियां, रसमिसे आलू की तरकारी और बैंगन का भर्ती। पिताजी नाराज हुये-"उसको तो बुखार चल रहा है, इतना खाना कैसे खायेगा?"

मां ने उल्टे झटपट सब्जियों का सूप भी तैयार कर दिया-

"आप ले तो जाओ। जो भी खाये। दो चार चीज़ें होगी तो कुछ तो खाने का मन कर ही आयेगा। न खाये तो कोई और खा लेगा..या पड़ा रहेगा। ले जाने में तो कुछ हर्ज नहीं।"

बड़ा सा पांच डिब्बोंवाला टिफिन कैरियर उठा कर पिताजी बोले थे-"इतना भारी कर दिया है...चालीस मील.."

मां खट से बात काट कर बोलीं थीं-"आपने कौन सा कंधे पर उठाना है! उठायेगा तो स्कूटर ही।"

पिताजी की यह बात मुझे समझ नहीं आती थी कि खुद तो कक्कू के लिये हर तरह की भागा -दौड़ी करते पर जब मां कुछ ज़रूरत से ज़्यादा करतीं तो नाराज़ होते।

कक्कू ने चखा सब-कुछ पर खाया कुछ नहीं। सिर्फ सूप ही पिया। भरे डिब्बे वापिस आये देख मां को ठेस सी लगी। फिर बोलीं -"चलो कुछ तो उसके अंदर गया।"

मैं सोच रही थी कि क्या इन स्वादों में कक्कू के लिये घर साकार हुआ होगा!

पिताजी हर दूसरे, तीसरे रोज़ खाना लेकर चल पड़ते थे कक्कू की ओर। इतवार की तो छुट्टी ही बस इसलिये थी।

पर कक्कू का न तो बुखार ठीक हो रहा था न खांसी थमने में आ रही थी।

हालत बिगड़ती गयी तो डाक्टर ने खुद ही पिताजी से कहा- "हमारे पास इनकी सही देखरेख नहीं हो पायेगी। आप इन्हें घर ही ले जाइये। किसी डाक्टर को दिखा दीजियेगा। कमज़ोरी बहुत है, खाना पीना भी ठीक से नहीं हो रहा। शायद कुछ हवा बदलने से तबीयत सुधरे।"

बी.ए. के सालाना इम्तहानों का आखिरी पर्चा देकर उस दिन जब मैं घर आयी तो देखा मां कक्कू के कमरे की सफ़ाई करने में जुटी हुई थीं। महरी पोचा लगा रही थी और वे खुद कोनो में पड़ी चीज़ों की झाड़-पोंछ कर रही थीं और साथ साथ महरी को भी हिदायते दिये जा रही थी- "पलंग के नीचे भी अच्छी तरह लगा। इस टंक के पीछे भी। धूल कतइ नहीं होनी चाहिये। उसे पहले ही बड़ी खांसी लगी हुई है।"

"मां क्या कक्कू आ रहा है आज?"

"हां तू बाजार से थोड़ा फल लेती आना। किसनू से कहना सब्जियों का शोरबा तैयार कर ले। पता नहीं क्या पसंद करे वह!"

लगभग नौ महीने बाद बेटा घर आ रहा था। घर का माहौल किसी नये बच्चे के आने की तैयारी जैसा ही मशगूल था। लेकिन इस मसरूफियत में उल्लास नहीं था।

चाचा जी पिताजी के साथ गये थे कक्कू को लिवाने।

पिताजी और चाचा जी के कंधों का सहारा लेकर चल रहा था कक्कू। अपने सहारे चलने की ताब ही नहीं रही थी उसमें। कंधे आगे को झुक आये थे। कक्कू पहचान में नहीं आता था-गाल एकदम पिचके हुये, आंखे भीतर को धंसी, जिस्म पर मांस की पर्त इतनी महीन हो गयी थी कि हड्डियों को ढकने की कोशिश बेकार साबित हो रही थी। चेहरे पर न कोई रंग न रौनक...एकदम बुझा बेसरोकार सा चेहरा। कोई ...किसी की भी पहचान वहां नहीं थीं। बस थी एक गहरी थकान...एक उदास और उचाट थकान। उसने न मुझको दीदी कहा न मां को मां।

मां ने बिना वक्त जाया किये झटपट उसे पलंग पर लिटाने की कोशिश की। लिटाते ही उसे जोर की खांसी उठी और खांसी के साथ ही ढेर सारा बलगम बाहर को बह आया। मैं भागकर गुसलखाने से कपड़े धोने वाली चिलमची उठा लायी। इतनी बलगम थी जैसे क़ै हुई हो। वह देर तक चिलमची में थूकता रहा।

चाचा जी के चेहरे पर चिन्ता उभरी।

"इसे जल्दी ही डाक्टर को दिखाना होगा। टेस्ट वगैरह करने होंगे। ये तो तपेदिक के सिम्पटम्स है"

घर पर बिजली गिरी थी। जिसकी पहली तकलीफ़ से हम अभी समझौता नहीं कर पाये थे-अब यह दूसरा वज्रपात कैसे सहन होगा।

जब तक टेस्टो के परिणाम नहीं आये हम घबराहट और उम्मीद दोनो ही पलड़ों में डोलते उस टंगी हुयी तलवार के गिरने का इंतज़ार करने लगे। जो डर वहम और शक हम सबको आतंकित किये थे वे सच ही निकले। कक्कू के टेस्टों के परिणाम पाज़िटिव थे।

पिताजी को इस सदमे ने एकदम तोड़ दिया था। इस प्रहार के महीने भर में ही उनको दिल का दौरा पड़ा था। फिर से हस्पताल के फेरे। भागदौड़। बीमार कक्कू घर पर। अस्पताल में पड़े पिताजी को कक्कू का ही फ़िक्र लगा रहता। पिताजी जैसे मुस्कुराना ही भूल गये थे। एक दिन मुझसे कहने लगे-"आय हैव बिन ए फेल्यर इन माइ लाईफ़"

"ऐसा क्यों कहते है आप!"

"मेरी ही गलतियां ,मेरे ही बिगाड़ने का फल है जो आज ये हालत हो गयी वना कक्कू भी कुछ बन गया होता"

उस गहरे, खुद को चीर देने वाले अफ़सोस की धार को कुंद करने वाले कोई भी सही शब्द मैं अपने कोष में नहीं खोज पायी।

मां इस दौरान दर्द की पछाड़े खा-खाकर मज़बूत दसूती के कपड़े की तरह निखर आयी थीं। उनको ऐसा अपने आप में जुड़ा, चिान की तरह टिका और शांति से जिम्मेवारी के फ़ैसले लेते इससे पहलै मैंने कभी नहीं देखा था। कक्कू और पिताजी के बीच हस्पताल और घर के चक्कर लगाते उन्होंने कभी थकान की शिकायत नहीं की, कभी निकम्मे बैठ कर आंसू नहीं बहाये। दिन रात काम में जुटी रहतीं--अभी कक्कू को संतरे का जूस देना है, तो अभी पिताजी को मीट का शोरबा पहुंचाना है, कब शशि पिताजी के पास हस्पताल में रकेगी और कब मां या किसनू, भैया को बुलाना है तो कितने दिन के लिये; हर बात का फ़ैसला मां ही लेने लग गयी थीं। बिना किसी के पकड़ाये अपने आप ही मां ने सारे घर की बागडोर थाम ली थी।

भैया आये तो मां ने कहा-"और तो सब तू कर ही रहा है, अब शशि के लिये कोई लड़का ढूंढना भी शुरु करो। बाप के होते-होते लड़की के हाथ पीले हो जाने चाहिये। इस घर की तो यूं भी बदनामी हो रही है। जितना जल्दी शुभ काम हो जाये हो जाना चाहिये।"

मुझे मां की ये बात बड़ी अजीब और कठोर लगती थी। घर भर हाहाकार मचा हो और इनको मेरी शादी की पड़ी है।

"मैं शादी कर लूंगी तो कक्कू की देखभाल कौन करेगा "

"तेरे से देखभाल नहीं करवानी उसकी। हम किसलिये हैं...अपने आप कर लेंगे। लड़कियां तो पराये घर की होती हैं। कक्कू के मारे तुझे घर में थोड़े न रखेंगे।"

मां का हर ऐसी बात में बड़ा साफ़-सुथरा मत था। उस पर विचार-विनिमय हो ही नहीं सकता था। उनके अपने अटल नियम थे। वे खुद बड़ी बेरहमी से उन नियमों का पालन करती थीं और दूसरों से भी यही उम्मीद रखती थीं। खास तौर पर बड़े भैया से। भैया मां की नियमावली का पूरा ध्यान रख कर चला करते थे।

एक दिन मैंने भैया को मां से कहते सुना-"शशि के लिये मैंने कई जगह बात की है। लड़के तो दो-तीन हैं। पर सवाल यह है कि उनसे देखा-दिखायी कैसे की जाये। घर पर तो बुला नहीं सकते।"

"क्यों ?"

और कहते ही मां की नजर कक्कू के कमरे पर पड़ी और वे चुप हो गयीं। एक लम्बी सांस लेकर कहने लगीं-"कैसे करें!"

"मैं सोचता हूं अभी रुक जाओ। लड़के वाले घर देखे बिना तो शादी करेंगे नहीं। कक्कू एक बार हस्पताल चला जाये, फिर दिखाते रहेंगे।"

"लेकिन कक्कू इतनी जल्दी हस्पताल....."

"मां तुम उसे ज़्यादा दिन घर नहीं रख सकतीं। टी.बी. तो छूत की बीमारी है। उसे जल्द से जल्द हस्पताल भेजना होगा।"

बहुत दिनों बाद मैंने मां को फिर से बिफरते देखा था-"मुश्किल से तो कुछ ठीक हुआ है....हस्पताल में कौन इसकी परवाह करेगा!"

कक्कू सच में बहुत बेहतर दीखने लगा था। मां अपने हाथों से उसे फलों का रस, दलिया ,सूप और उबली सब्जियों के हल्के और पौष्टिक खाने खिलाती। उसका जिस्म भी कुछ भरा था। चेहरे पर थोड़ी रौनक आने लगी थी।

यूं मां को उसकी छूत का ध्यान तो था। इसलिये वे मुझे या भैया को उसके करीब नहीं जाने देती थीं। पर खुद अपनी परवाह किये बिना वे हरदम उसकी टहल में लगी रहतीं। इसीलिये उन्हें लगता कि किसी और को तो कक्कू से खतरा नहीं, तब वह क्यों न घर पर ही रहता रहे।

यूं भी उन दिनों हम लोगों ने अपने आप को सामाजिक दायरों से काट कर रखा हुआ था। न किसी को घर पर बुलाया जाता न किसी के बुलाने पर हम कहीं जाते। कक्कू को लेकर मन में हीन भाव सा बना रहता। एक नासूर सा जैसे पूरे परिवार पर उग आया था। बुआ , मामा , मौसी जब अपने बच्चों की सफलता की लम्बी-चौड़ी कहानियां सुनाते तो मां-



पिताजी का दर्द और भी तीखा हो जाता। कक्कू जैसे पूरे घर के लिये एक शर्मनाक स्थिति बन गया था। धीरे-धीरे इस शर्म का अहसास उसकी तकलीफ से बड़ा बनता जा रहा था। वह ठीक हो रहा है या नहीं ; इससे भी बड़ी बात थी कि कैसे उसके ज़िक्र की बेआरामी से बचा जाये।

अपनी और अपने परिवारवालों की इस मनस्थिति को कुछ महसूस करने के बावजूद मैं तब तक स्वीकार नहीं कर सकी जब तक कि यह स्थिति अपनी पूरी कुरूपता के साथ हमारी आंखों के आमने-सामने नहीं खड़ी हो गयी। और ऐसा तब हुआ जबकि भैया और मां मेरे हाथ पीले कर देने की फिराक में थे।

भैया ने खोजबीन करके हस्पताल का पता लगा ही लिया। दिल्ली के आसपास ही हमारे घर से पच्चीस -तीस मील की दूरी पर ऐसा हस्पताल था जहां कक्कू का इलाज हो सकता था। इस तरह से उसे बहुत दूर भेजने की जरूरत नहीं थी और मां पिताजी उसे मिलने भी जा सकते थे।

कक्कू को हस्पताल भेजना वैसा ही था जैसे कि घर की गंदगी को बाहर फेंकना। गंदगी बाहर फेंकने के बाद एक तसल्ली सी होती है, एक बोझ सा उतरता है और उसके साथ ही कहीं ये इंतज़ार भी बना रहता है कि बाहर फेंका गया कूड़ा जल्द ही म्यूनिसिपैलिटी वाले उठाकर ले जाये इससे पहले कि वह आने जाने वालों की नज़रों में खटके।

कक्कू के जाते ही गंधक जलाकर उसका कमरा शुद्ध करवाया गया तो दीदी ने भी लिखा- "अब मैं बच्चों के साथ आप लोगों को मिलने आउंगी। कक्कू की वजह से ये मुझे आने ही न देते थे। कहते थे बच्चों का रिस्क लेना ठीक नहीं।"

भैया कहने लगे- "अब घर डिस्ट्रिक्ट हो गया है...अब शशि के लिये लड़का देख लेना चाहिये"

कुछेक दिन बाद ही बोले- "मेरे एक दोस्त ने एक लड़का बताया है...इंजीनियर है..बाप का बिजनेस है। अच्छे खाते पीते लोग है। परिवार ज्यादा बड़ा नहीं, दोनों बहनों की शादी हो चुकी है..इकलौता लड़का है।"

मां-पिताजी एक ओर मुझे हर तरह से बड़े बेज़ार से दीखते थे पर वहीं दुनियादारी के प्रति उनकी चेतना मुझे दंग कर देती थी। दोनों ही कहने लगे कि यह शुभ काम हो ही जाना चाहिये। पिताजी रिटायर भी होने वाले थे। उनकी इच्छा थी कि कि सरकारी बंगले से ही शादी हो जाये वर्ना रिटायर होने पर ये बंगला छोड़ना पड़ता और अभी अपना कोई घर तो बना नहीं था हमारा। मैं एम. ए. करना चाहती थी। पिताजी को मेरे एम.ए. करने पर कोई एतराज नहीं था, उल्टे उन्हें तो मेरे आगे पढ़ने का चाव ही था ...पर मां को हड़बड़ी सी मची

थी कि अच्छा लड़का मिले तो जल्द से जल्द शादी कर दी जाये इससे पहले कि कक्कू की बात और फैले!

+ + + + + +

यह सारा खेल घर की बैठकों में ही रचा जाता है। घर की हर गंदगी, हर उथल-पुथल, बैठक के करीने से सजे सोफों के नीचे दबा दी जाती है। कहीं अधखुले दरवाज़ों से कुछ झांक न जाये, इसलिये सारे दरवाज़ों पर मोटे-मोटे परदे भी मढ़ दिये जाते हैं...पर कहीं अपने आप तक से भी छुप सकते हैं ये दाग, ये ज़ख्म...।

मुझे देखने आया लड़का अपने मां-बाप के बीचों-बीच सोफ़े पर बैठा था। मैं और भैया ठीक उनके सामने वाले सोफ़े पर। पिताजी बायीं ओर की कुर्सी पर हम से कुछ दूरी पर। मां रसोई में किसनू को चाय वगैरह की हिदायतें दे रही थीं। हमारे और उनके सोफ़े के बीच फ़ासला एक काफी-मेज़ का था जिस पर शीशे के कुछ खिलौने सजे थे। मेज़ भी शीशे की ही थी पर उसका पारदर्शीपन बरसों की धूल के बाद धुंधला गया था। कुछ खरोंचे भी आ चुकी थीं।

मुझे उन लोगों की ओर इस तरह सीधा देखना बड़ा अजीब लग रहा था जबकि, खास तौर से लड़के के मां बाप मुझे घूरे ही जा रहे थे। मैं सहज होने की कोशिश में बातचीत में हिस्सा लेने लग गयी थी। अचानक लड़के की मां ने पूछा-"कितने भाई-बहन हैं आप लोग।"

मैं मुंह खोलने ही वाली थी कि भैया बोल पड़े-"पांच! शशि ही सबसे छोटी है. बाकी दोनों बहनों की शादी हो चुकी है। मेरा दूसरा भाई भी शादी-शुदा है।"

मैं अचकचायी सी भैया को देखती रही। पिताजी ने जैसे कुछ सुना ही नहीं था।

तो कक्कू अभी से हम सब के लिये निश्चेष हो गया था ! इस बार उसे अस्पताल भेजना क्या उसके अनस्तित्व की घोषणा थी! क्या किसी का बीमार होना इतनी शर्मनाक बात होती है कि उसकी हस्ती तक को नकार दिया जाये...उसका अस्पताल का कमरा मरघट का चौखटा मान लिया जाये! और यह सब कितनी आसानी से, सिर्फ संख्या के फेर से हो गया! नहीं छह नहीं...पांच भाई-बहन है!

मैं जानती हूँ कि भैया यह सब मेरे भले के लिये ही कह रहे थे। परिवार में कोई भी कमी होने पर शायद ये रिश्ता तय न हो। लोग कहें कि भाई पागल हो गया तो शायद लड़की में भी ऐसे ही कुछ बीज होंगे। सब जानते बूझते भी बहुत क्रूर लगी थी भैया की यह बात। और उतनी ही क्रूर थी मेरी अपनी कायरता, मेरा स्वार्थ जो भैया की बात को काट कर यह न कह सका कि नहीं मुझसे भी छोटा मेरा एक भाई है...वह बीमार है...अस्पताल में है।

कितने क्रूर है हम और कितना क्रूर है हमारा समाज जो बाहरी रूप रंग को सही बनाये रखने के लिये अपने रक्त को नकारने पर मजबूर कर देता है।

मुझे मालूम था कि कक्कू की बीमारी का कहते ही सामनेवाले सोफे से सवालियों के अनगिनत तीर छूटते जिनको परास्त करने का कोई बह्दास्त्र हममें से किसी के पास भी नहीं था। यूँ भी घाव पर जमी पपड़ी एक बार छिल जाये तो घाव बिगड़ जाता है, दुबारा भरने में जाने कितना वक्त लगे, या क्या पता भरे ही न, बिगड़ता ही जाये.....जैसे एक झूठ को ढकने के लिये कितने ही झूठ बेनिशाने लगे तीरों की तरह नाकारा हो जाते हैं...पता नहीं क्या कुछ और कितना कहना पड़ जाता है और बात फिर भी बनती नहीं।

बात तो खैर बनी ही नहीं वहां। रिश्ता हुआ ही नहीं। पर कक्कू के अस्तित्व को नकार कर जो चोट मुझे लगी उसका दर्द आज भी पूरी तरह से गया नहीं। शायद इसी लिये पूरी सजगता और हक के साथ अंशु के अस्तित्व को न केवल खुद स्वीकारती हूं, बल्कि दूसरों से उसके स्वीकार के लिये लड़ती भी हूं। और जिस सामाजिक दायरे में अंशु को स्वीकारा नहीं जाता उससे मैंने खुद को ही काट लिया है।

इसी लिये अब अशोक और मेरे दो अलग-अलग सामाजिक दायरे हैं। अशोक तो उन तथाकथित स्वस्थ लोगों के दायरे में घूमता है जो पांच-सितारा होटलों में रोज रात जश्न मनाते हैं, काला पैसा बनाते-उड़ाते हैं और ज़िंदगी की असलियतों से बहुत दूर रौशनियों की चकाचौंध में धुत पड़े रहते हैं। मेरे समाज में वे जूझती मांयें हैं जिनके बच्चों से अंशु खेलता है, उनके साथ उठता बैठता है, उनके साथ हंसता-रोता और किलकारियां या चीखें मारता है। उन बच्चों के भी विरासती समाज ने उन्हें ठुकरा दिया है। पर हम सबने मिलकर अपना ही समाज बना डाला है---जिसमें दूसरे को देखकर कोई हीन भाव नहीं उठता...असहायता हावी नहीं रहती। सब वैसे ही उन्मुक्त भाव से खेलते हैं जैसे यह सारी दुनिया उन्हीं की हो....उन्हीं के लिये बनी हो....उन्हीं के होने से हो। इन भोले-मासूम बच्चों को क्या पता कि उनसे क्या छिन गया है....तब जो भी पल इस दुनिया में बिताने हैं, वे इस अहसास के साथ क्यों न बिताये जाये कि यह दुनिया सच में उन्हीं की है।

काश ! कक्कू को हम यह अहसास दे पाते। उसे तो बस घर से निकालने की की। न तो उसकी दुनिया को समझा, न ही उसे संवारने की कोशिश की। पता नहीं क्यों पूरी हमदर्दी रखते हुए भी सब कुछ ग़लत होता रहा। क्या ग़लत हुआ --यह भी पता न लग पाया। और एक बार जब हमें यह महसूस होने लगा कि वह हमारी दुनिया का नहीं रहा तो बस एकदम अस्वीकार ही दिया उसे। जैसे किसी का बेशकीमती हीरा समुद्र में गिर पड़े तो गोता लगा कर खोजने के बजाय वह घबराया हुआ सवाल बना सोचता रह जाये ---उसे यह भी याद न आये कि उसे तैरना आता भी है या नहीं---बस खड़ा खड़ा अपनी सम्पत्ति को डूबता देखता रहे और फिर घटे हुए को अवश्यंभावी मान अचानक हार स्वीकार कर निढाल बैठ जाये।

लेकिन इस अस्वीकार में मुक्ति नहीं थी---बोझ था। एक बड़ा सा अपराध बोझ! अपनी सामर्थ्य की सीमाओं के विवश अहसास 'का बोझ! एक अपरिचित दुनिया की अबूझ रहस्यात्मकता का बोझ! और भी भारी थी इस बोझ को ढोते चले जाने की मजबूरी।

मां-पिताजी के इतवारों की चर्या थी- स्कूटर पर बैठकर मीलों दूर किंगजवेकैप जाना। मां सुबह-सुबह ताज़े फलों का रस निकाल कर बोतल में भरती, एक थर्मस में चिकन का गर्म-गर्म सूप डालती और टिफिन कैरियर के डिब्बों में सब्जियां। अस्पताल में अपने सामने उसे खिलती और फिर हफ्ता भर यही सोचती कि अगले इतवार कौन सी ऐसी चीज पकाकर ले जायें जिसे वह शौक से खा ले।

यूं मां पर पिताजी की देखरेख का बोझ भी कम नहीं था। दिल के दौरों के बाद से पिताजी को भी खाने पीने के मामले में बड़ी एहतियात बरतनी पड़ती। मुझे पिताजी का इतनी दूर स्कूटर चलाकर जाना भी घबरवा देता। इस उम्र में इतनी फ़िक्रें और इतनी भाग-दौड़! उपर से वे रिटायर हो रहे थे और हमें सरकारी बंगला खाली करना था। इधर मां मेरी शादी के लिये उतावली हुई जा रही थीं।

एक बार फिर से वही नाटक खेला गया। लड़के और उसके मां-बाप के सामने कक्कू के होने को एकदम उसी तरह नकार दिया गया जैसे पीप भरे घाव को कपड़े से ढक कर कोई उसके दर्द की मौजूदगी से भी मुकर जाये। इस बार बात पक्की हो गयी और मेरी शादी की तैयारियों का नया बोझ अब मां-पिताजी पर था।

मैंने एम. ए. की पढ़ाई शुरू कर तो दी पर मुझे पता था कि खत्म होने से पहले ही मेरी शादी कर दी जायेगी। हमारे घर के इतिहास में हर लड़की ने एम. ए. प्रीवियस तक की ही पढ़ाई की थी।



पिताजी को इधर अपना मकान बनवाने की बहुत जल्दी मच गयी थी। रिटायर होने के बाद यूँ छह महीने तक वे मकान रख सकते थे। पर उसके बाद हर हालत में सरकारी बंगला छोड़ना पड़ता।

मां पिताजी को सुनाती रहती - " मैं हमेशा आपसे कहती रही कि अपना मकान बनवाओ...अब कहां जायेंगे..किराये के मकान दिल्ली भर हमारे बस के नहीं।"

पिताजी का पेटेंट जवाब होता-" कोशिश तो कर ही रहा हूं...तुमको कुछ पसंद भी तो आये।"

उन्होंने एक प्लाट के लिये बहुत पहले से अर्जी दे रखी थी पर उस जमीन का अभी पूरी तरह विकास नहीं हुआ था। न जंगल साफ हुए थे न पानी की व्यवस्था। इसी से ज़मीन मिलने में देरी होती जा रही थी। किसी घटिया या भीड़ भरी पुरानी दिल्ली के हिस्से में पिताजी रहना नहीं चाहते थे--हमेशा से उन्हें खुली जगहों में ही रहने की आदत रही थी। उन दिनों दक्षिण दिल्ली में ही नयी रिहायशी कालोनियां बन रही थीं ,उसी के प्लाट का इंतज़ार था।

प्लाट मिलते ही किसी हैवान की तरह जुट गये थे पिताजी दिन रात मकान बनवाने में। हर रोज़ सुबह-सुबह निकल जाते..देर रात घर आते--सीमेंट, ईंटें , मजदूर, आर्कीटेक्ट, शहतीर, पानी....पता नहीं क्या-क्या इंतजाम उनके सर पर सवार रहते।

मुझे पिताजी की हबड़ा-तबड़ी कुछ समझ में नहीं पड़ती थी। मैं पूछती-"आखिर आपको इतनी जल्दी क्या है? बन जायेगा धीरे-धीरे मकान! आप अपने-आप को इतना स्ट्रेन क्यों करते हैं...कुछ देर के लिये तो किराये के मकान में भी रहा जा सकता है।"

वे पलट कर जवाब देते-"नहीं नहीं, बार-बार शिफ्ट क्यों करेंगे! घर तो बन ही रहा है....और कक्कू भी जब अस्पताल से आयेगा तो किराये की कोठरी में कहां रहेगा।.....फिर मैं चाहता हूं कि तेरी शादी भी नये मकान में ही करूं। अपने मकान की शान और होती है।"

पता नहीं मुझे क्यों लगता रहता था कि पिताजी को जैसे भीतर ही भीतर कुछ खाये चला जा रहा है...वे हर पल बड़े बेचैन से दीखते। हर वक्त उन्हें दौड़ भाग सी लगी रहती! हर पल जल्दबाज़ी मची रहती। हर काम को खत्म करने में इतनी उतावली बरतते जैसे कि कल आयेगा ही नहीं।

एक दिन मैं भी चली गयी थी उनके साथ मकान वाली जगह पर। धूप में बैठे-बैठे मेरा तो सिर दुखने लगा था। सुबह दस बजे पहुंचने वाले मजदूर जाकर डेढ़ बजे पहुंचे। फिर काम बीच में ही रोक दिया गया कि सीमेंट नहीं है। मुझे लगा पिताजी वहां हों या न , काम तो अपनी गति से ही चलेगा। मैंने कह भी दिया-"आप चाहे जायें या न , काम तो होता ही रहेगा। फिर आप क्यों मुफ्त में अपनी जान बरबाद करते हैं।"

पर उनके जवाब में भी सच था-" देखा न सीमेंट ही नहीं थी, मैं जाकर इंतजाम न करता तो कल तक भी पड़ा ही रहना था काम।"

घर के नक्शे में पिताजी ने कक्कू के लिये अलग से कमरा और बाथरूम बनवाया था।  
-"मैं नहीं रहूंगा तो कम से कम उसके रहने की जगह तो हो"

भैया से भी उन्होंने कहा था-"कक्कू मेरी जिम्मेवारी है। उसका बोझ मैं तुम भाईयों पर नहीं डालूंगा। पर इस घर में कक्कू का भी हक है। यह पीछे वाला सेट उसी को दे देना। वही यहां रहेगा।"

जिस पिताजी से कक्कू को हरदम शिकायत रहती थी कि वे उसे घर पर रहने नहीं देते, वही पिताजी जीजान लगा कर अब कक्कू के लिये घर बनवा रहे थे!

इसका मतलब कहीं यह भी था कि पिताजी को कहीं उम्मीद थी कि कक्कू ठीक होकर लौटेगा और फिर इसी घर में रहेगा। उम्मीद तो हम सबको थी। आखिर इलाज के लिये ही तो गया था अस्पताल, उसके बाद घर ही लौटना था।

घर बन रहा था और पिताजी कहीं तिल-तिल कर घुल रहे थे। पर ज्यों-ज्यों मकान आकार लेता जाता उनके चेहरे पर भी अजीब खुशी की चमक बढ़ती जाती। वे हर वक्त बड़े उत्तेजित से रहते। रोज़ घर में मकान की तरक्की का ही चर्चा होता रहता--आज छत पड़ गयी है...आज फर्श बननेवाले हैं...आज बैठक के फर्श की घिसाई होगी...उसके लिये संगेमरमर के चिप्स डलवाये जा चुके हैं...आज कक्कू वाले बाथरूम में सिंक फिट किया गया....आज नलके लगाये जायेंगे---बस कुछ इसी तरह की खबरें वे हमें रोज़ सुनाते और अकसर बताते-बताते हांफने लगते।

मकान में बिजली की फिटिंग और कुछ फिनिशिंग टचेस रह गये थे जबकि हमें सरकारी बंगला खाली करने का हुक्म मिला। पिताजी ने फैसला किया कि क्यों न सीधे अपने घर में ही जाकर रहा जाये --छोटे-मोटे काम तो हमारे रहते भी हो ही सकते हैं। वे नये घर में ज्यादा सामान भी नहीं ले जाना चाहते थे कि नया सामान ही खरीदेंगे। पर मां ने कक्कू का तो लगभग सारा ही सामान बंधवा लिया था।

नये और अपने घर में आकर अजीब तसल्ली सी हुई थी मां -पिताजी को। मां को घर का नक्शा पूरी तरह से पसंद नहीं आया था, वे रोज़ कुछ न कुछ शिकायत भी कर देतीं -

नलका यहां नहीं वहां होना चाहिये था, फलां कमरे का रख इधर नहीं उधर होना चाहिये था। फिर भी अपने घर का सुख कुछ और ही था। लेकिन छोटे -मोटे काम अभी बचे थे इसलिये दिन भर घर में ठोकाठाकी होती रहती। दोपहर में भी आराम करने को न मिलता। कोई न कोई मजदूर कहीं न कहीं कुछ ठोकपीट ही रहा होता। बहुत जल्द ही हम इस शोर-शराबे से आजिज़ आने लगे। ऐसा लगने लगा जैसे यह घर बनना कभी खत्म ही न होगा....जैसे यह शोर, यह हथौड़ों की मारामारी, यह कीलों की ठोकाठाकी, यह मजदूरों की बीड़ियों का कड़वा धुआं ..यह सब बस ऐसे ही बेचैन करता रहेगा। पिताजी की मकान खत्म करने की जल्दबाज़ी अब बेआरामी में तबदील होने लगी। अकसर वे रात-रात सो ही न पाते। कई बार जब वे पानी पीने के लिये उठते तो मेरी भी नींद खुल जाती। मेरे पूछने पर बस इतना कह देते-"यूं ही नींद नहीं आ रही। तू सो जा।"

सुबह को उनका चेहरा उनींदा और थका थका दीखता।

मैंने उनसे पूछा भी- "आपको किस बात का फिक्र सताता रहता है...घर तो बन गया"

"पता नहीं..धुकधुकी सी लगी रहती है....जाने कितने दिन और जीना है...सारे काम अधूरे पड़े हैं....पूरा का पूरा पैसा मकान में लग गया...खायेंगे पता नहीं कहां से...मकान बना कर भी तसल्ली कहां हुई....तेरी मां भी खुश नहीं....कक्कू .. पता नहीं ठीक होगा भी या नहीं...मेरे बाद क्या हाल हो उसका...."

"ठीक क्यों नहीं होगा .....इलाज तो हो रहा है....जहां तक पैसे का सवाल है, मैं नौकरी कर लूंगी।...इसमें फिक्र..."

"नहीं बेटा तू कहां से करेगी....अगले महीने की तो तेरी शादी की तारीख है। खैर कुछ न कुछ तो करना होगा ही। मैं ही कोई नौकरी ढूंढूंगा"

+ + + + + + +

उस इतवार मैं कालेज की लड़कियों के साथ पिकनिक पर कुतुबमीनार जा रही थी। फरवरी की वसंती सुबह थी--धूप से खूब सिंकी हुई। गुनगुनी हवा में तैरती फूलों की खुशबू और पीली-भूरी चिड़ियों की चहचहाहट। आसमान खूब खुला। कहीं-कहीं छितरे सफेद बादलों के टुकड़े उसकी नीलाई को और भी गहरा देते।

पिताजी ने मकान की बनवाई के दौरान सामने वाले हिस्से में आम, जामुन, और फूलों के पेड़ लगवा दिये थे। उन्हीं दिनों जब पौधे मंगवाये गये तो उस सरकारी बंगले में भी पिताजी ने पेड़ लगवा दिये जिसमें कि हम रह रहे थे। मैंने हैरान होकर पूछा था

"अब यहां पेड़ क्यों लगवा रहे हैं, यह घर तो हमने छोड़ देना है"

वे हल्के से मुस्कुराये थे

"बेटा हमने किसी का बोया खाया, कोई हमारा बोया खायेगा"

छत से वसंत का सुख भोगते उन नन्हें पेड़ों को देखती मैं सोच रही थी पता नहीं कब जाकर बड़े होंगे ये! और जब सचमुच बड़े होंगे तो तब यह घर मेरा कहां रहेगा! इसीलिये कहा जाता है कि गति ही जीवन है। घर..फिर घर से बाहर .....एक और घर...सिलसिला चलता रहता है। घर से बाहर भी कहीं घर होता है... और कभी उस घर में रहते भी बनी रहती है घर की तमन्ना...यह भी गति है!! गति तो शायद इस सिलसिले की पहचान भर है...घर में या घर से बाहर होने के संवेदनात्मक या भावात्मक अनुभव से बेखबर, बेवास्ता, बेसरोकार।

पिताजी की आवाज से चौकी थी।

"मैं खाली हूं, तुझे कालेज छोड़ आता हूं"

उन दिनों दक्षिण दिल्ली इतना बसा नहीं था। मकान की छत से दूर-दूर तक खंडहर ही दीखते थे। हमारी कालोनी से कोई बस नहीं चलती थी। टैक्सी-स्कूटर भी इक्के-दुक्के ही आते थे। इसलिये अक्सर उन्हें मुझे बस-स्टैंड पर छोड़ना पड़ता था।

"इतनी दूर क्यों जायेगे। बस-स्टाप तक ही छोड़ दीजिये।"

पता नहीं क्यों उनको ज़िद ही थी...मुझे पूरा कालेज तक छोड़ा।

कालेज के गेट पर जब मैं उन्हें बाय-बाय करने लगी तो सहसा उनका चेहरा बेहद ज़र्द और उतरा हुआ लगा। आंखों के नीचे काली झांझियां सी पड़ी थीं...भीतर को धंस रही थीं आंखें। एकदम घबराहट सी सरसरा गयी मेरे भीतर।

"क्या बात है पिताजी? आप बड़े थके-थके से लग रहे हैं"

"कुछ नहीं। रात नींद नहीं आयी।"

बड़ा अनमना सा स्वर था उनका।

"मुझे पता होता तो आपसे इतनी दूर खुद को छोड़वाती तो न। अब प्लीज़ घर जाकर आराम कीजियेगा।"

"हां..हां, अब आराम हीकरना है....कल बिजली की फिटिंगज़ तो ले ही आया था। अब और कुछ खास बचा ही नहीं। आराम ही करूंगा।"

"कक्कू के पास भी तो जायेगे आप?"

"देखता हूं...आज शायद उससे मिलना न हो पाये। गया तो आराम करके दोपहर में ही जाऊंगा। तू फिक्र मत कर...घर जाकर आराम ही करूंगा।"

आश्वासन पाकर मैं सहेलियों से मिलते ही सब कुछ भूल पूरी तरह से पिकनिक की चहल-पहल में रच-रम गयी।

कुतुब ले जाने वाली बसें पहले से ही मौजूद थीं...आधी से ज्यादा लड़कियां उनमें बैठ भी चुकी थीं। रंग बिरंगे कपड़ों में वसंत के फूलों सी खिली उन लड़कियों को देख ऐसा लग



रहा था मानों उन बसों में फूलों की ही झांकिया सजी हों। चहचहाहट इतनी कि मानों सारे जंगल की चिड़ियों को पकड़कर इन्ही बसों में कैद कर दिया गया हो। मैं जल्द ही ढूँढ-ढाँढ कर अपनी सहेलियों के गुट में शामिल हो गयी। वसंत की जो रागिनी हमने छोड़ी वह कुतुब पहुंच कर भी जारी रही।

पर बड़ा अजीब सा था वह पिकनिक का दिन। ज़िंदगी और मौत के तरह-तरह के प्रतीक अनजाने ही मेरे अवचेतन से खेलते रहे थे-- वसंत भर ही खिलने वाले फूल....और इतिहास को जी जाने वाले खंडहर! पैरों को छूती हुई गीली, पहचानी-सी हरी घास का फैलाव...और छुवन से बहुत परे आसमान की नीली रहस्यात्मकता का विस्तार। हरियाली ज़िंदगी का , खुशी का प्रतीक होती है...नीलापन मौत का , ज़हर का। फिर भी एक ही शब्द 'श्याम' दोनो रंगों को अपने में समेटे है। शायद इसीलिये संसार के स्रष्टा की परिकल्पना भी इसी रंग से जुड़ी है। .....मौत और ज़िंदगी दोनो उसी में तो समाहित है। ...सच में कितना कम फर्क है मौत और ज़िंदगी में... यूँ वे ऐसे प्रतीत होते हैं जैसे कभी न मिल सकने वाले सागर के दो छोर हों। जबकि एक के भीतर दूसरा ऐसे समाया है जैसे सागर के भीतर उसकी गहराई या पानी के भीतर उसकी नीलाई।

मेरी सहेलियां मेरे मंगेतर को लेकर मुझे छोड़ती रहीं थीं। परिवार से अलग, उससे मेरी इकलौती मुलाकात का चर्चा उन्हें गुदगुदा देता था, वे बार-बार रस लेती कुछ न कुछ उल्टा-सीधा सवाल पूछती रहतीं। मुझे शायद उसके बारे में बात करने में सुख मिलता था सो मैं भी बात को तान-फैला कर कहां का कहां पहुंचा देती। ज़िंदगी के उस अनछुए हिस्से में बात का सुख भी कितना बड़ा और सच्चा सुख था। मेरी उस मामूली सी , घटनाविहीन मुलाकात के बयान में ही कितना कुछ जी लिया था मेरी उन अनब्याही, अनमंगी सखियों ने।

पर बहुत अजीब सी थी मेरी निजी स्थिति। एक ओर मन में गुदगुदाहट होती, मीठी भांवरें उठती, वहीं पलों में ही मन बेचैन और उदास हो उठता। कक्कू, मां , पिताजी...! लगता कहीं मेरे घर को मेरी ज़रूरत है.....जैसे कोई भयंकर साये से इस घर पर मंडरा रहे थे...जिन्हें पता नहीं मैं हटा सकती थी या नहीं ...पर कम से कम मेरी मौजूदगी, मेरी शिरकत...जैसे कहीं बहुत जरूरी थी।

खंडहरों, हरियाली और रंगों से खेलते, झूमते-गाते, पता नहीं कब दुपहरी कुम्हलाने लगी। पिकनिक समेटने का वक्त आ गया। अचानक भीतर अजीब सी खोह पड़ने लगी। उत्सव का अंत तो मुझे हमेशा उदास कर देता है...पर ऐसी खोह मुझे कभी नहीं पड़ी थी...मन जैसे किसी गुफा में धंसता जा रहा था। मुझे समझ भी नहीं पड़ रहा था कि अचानक यह मुझे क्या हो रहा है...ऐसी घबराहट, ऐसा दिल घटना...जैसे कहीं बहुत भारी वज्रपात हुआ हो।

कालेज की बस ने एक नियत कोने पर छोड़ दिया। वहां से मैंने घर के लिये बस ली। बस स्टाप चूँकि घर से बहुत दूर था, मैं सोचने लगी कि पिताजी को अगर लौटने का नियत वक्त बता देती तो वे मुझे लेने भी आ जाते। फिर लगा कि अच्छा ही किया कि उन्हें आराम करने दिया। स्कूटरवाले से पूछा तो उसने जाने से इंकार कर दिया क्योंकि जो रास्ता पैदल चलने के लिये बहुत लम्बा था वह स्कूटरवाले के लिये उतना ही छोटा। मैंने पैदल चलने की ही ठान ली। रास्ते भर मुस्कुराती जा रही थी और पिताजी से बातें करती जा रही थी कि देखो आज आपकी बेटा अपने-आप इतनी दूर पैदल ही आ गयी। खुशी इस बात की भी हो रही थी कि उन्हें तकलीफ दिये बिना मैं ठीक ठाक घर पहुंच जाऊंगी और देर भी नहीं हुई थी। सूरज डूब चुका था लेकिन आसमान के रंग अभी भी आग की लपटों से धधक रहे थे।

अपने घर वाली गली की तरफ मुड़ी तो देखा मकान के गेट के बाहर ही मेरी मौसी का बड़ा बेटा शम्मी खड़ा हुआ था। मुझे अचंभा हुआ...मैंने दूर से ही उसे आवाज लगाते हुए पूछना शुरू कर दिया

"अरे तू कैसे आया....मुझे तो पता ही नहीं था कि तुमने आज आना है"

मेरे इन कौतूहल भरे उद्गारों पर उसने कोई प्रतिक्रिया नहीं दिखाई।

करीब पहुंच कर मैंने फिर दोहराया

"तू कब आया?"

"हँSSSSSS ...बताता हूँ।"

उसने हल्के से मेरे दोनों कंधों को पीछे से अपनी दायीं बांह में समेटा और मुझे गेट से अंदर की ओर ले चला

बैठक का दरवाजा खुला पड़ा था। घर का एक प्रवेश बैठक के इस दरवाजे से भी था। दरवाजे के करीब पहुंचने के ठीक पहले उसने धीरे से मेरे कान के पास मुंह लाकर कहा-

"मासड़ जी नहीं रहे"

बरामदे की इकलौती सीढ़ी चढ़ते ही बैठक के फर्श पर सफेद चादर से ढकी पिताजी की लाश पर मेरी नज़र पड़ गयी थी। कुछ घड़ियां पहले ही तो मैं मन ही मन उनसे बातें करती हुई आ रही थी! तो यूँ ही बातें कर रही थी..वे सुन भी नहीं रहे थे..क्या सच में कुछ नहीं पहुंचा उन तक..कितना कुछ मैंने उन्हें घर पहुंचकर बतलाना था...मेरा दिन भर का अनुभव...और अचानक उनकी ऐसी तीखी याद..भीतर खोह पड़ना! सहसा भीतर कुछ दरक गया...तो जब मैं बतिया रही थी, वे इस दुनिया में भी मौजूद नहीं थे! अब मैं कभी भी उनसे अपनी बात नहीं कह पाऊंगी! अपने-आप को यह विश्वास दिलाना ही मुश्किल लग रहा था कि ऐसा कुछ घटा है। मेरे भीतर को तोड़ मरोड़ कर जैसे किसी ने चिथड़े-चिथड़े कर दिया हो। एक चीख के साथ मैंने उस सामने रखी तकलीफदेह सच्चाई को नकारने की भरसक कोशिश की। और

उसके बाद चीखें, आंसू उस सच्चाई को और भी ज्यादा घिस-घिसकर, पैना और नुकीला बनाकर मेरे भीतर उतार रहे थे।

आसपास से उठती बहुत सी आवाजे, अधूरे-पूरे वाक्यों के टुकड़े कान में पड़ते रहे--- अचानक दिल का दौरा पड़ा..घर पर कोई नहीं था...मां ने एक मजदूर से कहकर टैक्सी मंगवाई....अभी दरवाजे का ताला लगा ही रहे थे कि बेहोश होकर गिर गये...मजदूरों ने टैक्सी में बिठाया...बिठाया क्या लिटाया....अस्पताल पहुंचने के पहले ही दिल की धड़कन रुक चुकी थी....

मौसी, मामा, बुआ...और बहुत से जाने-पहचाने से चेहरे आसपास थे। पर पता नहीं कोई भी चेहरा तसल्ली नहीं देता था। इतने लोगों से घिरा होकर भी इंसान कितना अकेला हो जाता है अपने दुख में--लगता था जो मेरा खोया है वह इनमें से किसी का नहीं खोया।

दोनों भाईयों के हवाई जहाज सुबह से पहले नहीं पहुंच सकते थे। पिताजी की लाश को बर्फ की सिल्लियों पर रख दिया गया था।

"कोई कक्कू को लायेगा अस्पताल से?" यह सवाल मौसी ने उठाया था।

"उसको क्या पता कि क्या हुआ है...वह कौन सा पहचानता होगा"

"फिर भी बेटा है, बाप का आखिरी बार मुंह तो दिखाना ही चाहिये"

"मैं जाकर ले आउंगा कल सुबह"--मामा जी ने कहा था।

मां किसी कोने में सुन्न सी पड़ी थीं। उनको न अपना होश था न किसी और का। उनको मैंने चीखते चिल्लाते नहीं सुना--उनका दुख तो मुझसे भी बड़ा था। मेरे सामने तो फिर भी एक भविष्य था...क्या था मां का भविष्य! क्या मां भी अपना दुख बांटने में खुद को असमर्थ पा रही थीं। एकाकी, सुन्न! हर कोई अपना-अपना दुख अपने ढंग से ही सहता है....दूसरों की शिरकत बहुत मामूली सा ही फर्क ला पाती है! फिर भी कितना ज़रूरी होता है कि कोई संभालनेवाला हो।

सारी रात मैं वहीं बैठक में ही बैठी रही थी। बार बार मौसी या मामा--कोई न कोई भीतर जाकर सोने को कहता रहा पर मेरा वहां से उठने को जी ही न होता था। बर्फ की सिल्ली पर पड़े उस शरीर में आते विकार देखती रही थी और जो कुछ बचा-खुचा था उसे जैसे अंतिम बार भरसक अपने भीतर समो लेना चाहती थी-- जिंदगी भर शायद मैंने पिताजी का चेहरा उतने ध्यान से न देखा होगा जैसे उस रात! जो कोई इतना अपना होता है कि हम उस पर इतना ध्यान भी नहीं देते और अचानक खो देने पर एक गहरे पछतावे के साथ उसे पकड़ रखना चाहते हैं। यूं भी पिता के साथ बेटा का रिश्ता भी शायद कुछ इस तरह का होता है कि देर तक चेहरे पर निगाह टिकायी नहीं जा सकती। या कभी मेरी जिंदगी में ऐसे भावमय अवसर भी नहीं आये कि देर तक निगाह उन्हे जोहती रहती। पर आज जब वे पूरी तरह से

बेखबर लेटे थे तो मेरी आंख उनके चेहरे से हटती ही नहीं थी। उस शांत, निद्रित चेहरे के साथ ही मैं अपना आखिरी रिश्ता जोड़कर जीवन भर की कमियां पूरी कर लेना चाहती थी। अजीब बात थी कि पिता अब तक मेरे लिये जो कुछ भी रहे हों पर एक शरीर नहीं थे..उनके शरीर के प्रति कोई सजगता नहीं थी..पर आज सिर्फ वह निष्क्रिय शरीर ही मेरे सारे संपर्कों , मेरे चेतन में उनके प्रति भावों-प्रतिभावों का माध्यम बन गया था।

भोर की बेला में किसी ने मुझे सहारा देकर बिस्तर पर लेटा दिया था...तब तक मैं पूरी तरह से निचुड़ चुकी थी। अंततः थकान ही निस्तार देती है हर तरह के अतिरेक से-चाहे सुख का हो या दुःख का। पता नहीं कब मुझे नींद आ गयी।

आंख खुली तो घर भर में दबादबा सा कोलाहल मचा हुआ था। दीदी बच्चों के साथ पहुंच चुकी थीं। दोनो भैया भी तभी- तभी पहुंचे थे। रोने-धोने, खुसपुस बातें और पुकारने की आवाजे मेरे कानों में पड़ती रही थी--पर मैं निःस्पंद पड़ी रही अपने बिस्तर में।

कुछ देर बाद उठ, हाथ-मुंह धोकर मैं बैठक में गयी तो मर्द लोग पिताजी की लाश नहलाने की तैयारी कर रहे थे। मैं दीदी, भैया-भाभी से गले लग बाहर लान में आ गयी। यूं भी पिताजी को नहलाने के इस उपचार में मुझे या किसी भी महिला को बैठक के अंदर रहने की इजाज़त नहीं थी। दोनो भैया और चाचा वगैरह बैठक के दरवाजे बंद करके नहलाना कर रहे थे...पानी की बाल्टियां वहीं अंदर ले जायीं गयीं थीं। सोफे वगैरह तो कल शाम को ही उठाकर बरामदे में रख दिये गये थे। अब नहलाने से पहले कालीन और दरी भी बाहर लान में बिछा दिये गये। बहुत सारे लोग-रिश्तेदार इधर-उधर बिखरे बैठे हुए थे। बहुत से चेहरे जिन्हे कभी देखा ही नहीं था या जिन्हे बरसों बाद देख रही थी। हर किसी का मृत के साथ अपनी-अपनी किस्म का रिश्ता होता है..आज देख रही थी कि पिताजी कितनों से कितनी-कितनी तरह से जुड़े थे..और यह भी महसूस कर रही थी कि आज के बाद शायद ही ये चेहरे फिर दिखें। किसी जाने-पहचाने का चले जाना अचानक ही मौत के प्रति इंसानी कौतूहल को एकदम से जगा देता है..फिर जीने को उत्सुक आदमी उतनी ही जल्दी सब भूलभुला कर जीने के कर्म में जुट जाना चाहता है।

तभी मामाजी गाड़ी से उतरे और कक्कू उनके पीछे-पीछे उनका सहारा लेता उतरा।

मुझे उसका चेहरा बड़ा खोया-खोया सा, उड़ा-उड़ा सा लगा। उसकी निगाह सीधी लान की भीड़ पर पड़ी थी। एक अजनबी सा, अपहचाना सा भाव था उसमें। वह पहली बार हमारे नये घर में आ रहा था...एक उड़ती सी निगाह मकान पर भी पड़ी थी उसकी। एक उलझी हुई सी निगाह। कक्कू उस भीड़ में किसी को भी पहचानता नहीं था। अपने भाई बहनों को भी नहीं शायद! किसी के लिये भी उसकी आंख में पहचान का भाव नहीं था। एक बड़ी तीखी सी पीड़ा उठी मेरे भीतर। मुझे अंदाज़ तक नहीं था कि मेरा भाई क्या सोचता है,

क्या महसूस करता है...क्या उसे अब भी अहसास है कि मैं उसकी बहन हूँ....कि कितना करीबी रिश्ता है उसके और मेरे बीच! मैं चाहे इस रिश्ते को बनाये रखूँ या तोड़ डालूँ...इससे कुछ फर्क पड़ेगा इसे! मेरा होना न होना इसके लिये शायद मायना ही नहीं रखता ...मैं मर भी जाऊँ तो शायद इसे फर्क नहीं पड़ेगा। रिश्ते शायद सिर्फ चेतना से ही जुड़े हैं.....न तो अचेतन पड़े पिताजी को मेरे साथ अपने रिश्ते का अहसास है ...न शायद कक्कू को...मुझे लगा जिदगी सिर्फ हार की ही बाज़ी है, हार का ही खेल है!! ....कितना बड़ा झूठ है ये रिश्ते! आज मैं अपनी इंद्रियों से महसूस करना बंद कर दूँ तो सारे रिश्ते ही मेरे लिये खत्म! जिन रिश्तों को जीजान से भी ज्यादा अहमियत देती रही हूँ...इतने कच्चे और बेमानी हैं वे!! एक चोट...एक वार और सारे रिश्ते मिट्टी में!

तभी भीतर एक आवेग सा उठा, जैसे कि इतनी आसानी से इन रिश्तों को मैं झुठला नहीं सकती थी! मैं तेज़ी से कक्कू की ओर बढ़ी और उसके कंधों को झकझोरती सी मेरी रुलाई फूट पड़ी

"पिताजी हमें छोड़ गये कक्कू!"

कक्कू कुछ पल खाली-खाली खोखली सी आंखों से मुझे ताकता रहा। फिर अचानक बोला-"क्या हुआ ? क्या हुआ पिताजी को? कहां है पिताजी?"

"वे नहीं रहे कक्कू"

मेरी रुलाई और तेज़ हो रही थी। शायद मुझे रोता देख या पता नहीं किस अहसास से ...उसकी आंखों में अजीब वेदना का भाव उभरा था। वह वेदना, एक बुझा बुझापन सा फिर घंटों उसकी आंखों में जमा रहा। उसने किसी से कुछ बात नहीं की। बस आंखों में वही उलझी हुई वेदना का भाव लिये खामोश सबको ताकता रहा ।

मामाजी उसे पिताजी के नहाये धुले शरीर के पास ले जाकर बोले

"ले पिताजी के चरण छू ले । उनके अंतिम दर्शन कर ले।"

वह उसी उलझे और सहमे भाव से खड़ा पिताजी के शरीर को देखता रहा था। फिर वहीं पास बैठ गया और एकटक उन्हें देखता ही रहा।

फिर अचानक मामा जी से बोला

"क्या हुआ है इनको?...हैSS ..क्या हुआ इनको?"

कुछ खोजती सी आंखों से वह वहां फैले रिश्तेदारों की ओर देखने लगा..जैसे कि उन्हीं के पास जवाब हो। ज़्यादातर लोग इस वक्त उसी को घूर रहे थे। अचानक उन्हीं रिश्तेदारों की ओर मुखर हो वह अपना सवाल दुहराने लगा। मुझे लगा जैसे कि वह पिताजी के बजाय उन जमा हुए लोगों को लेकर ही कह रहा हो-"क्या हुआ है इनको..हैSSS.क्या हुआ है इनको?"

स्थिति बड़ी अजीब सी हो गयी थी --शोक की उस घड़ी में परिहास सा दिखा था कुछ चेहरों पर। मामाजी और भैया खिसिया से आये थे। अगले पल वे कक्कू को उठाकर सहारा देते हुए पिताजी द्वारा बनवाये गये कक्कू के अपने कमरे में ले गये थे। वह थका-थका सा हो रहा था । वहीं बिस्तर पर लेटा दिया तो वह सो ही गया। उसे शमशान नहीं ले गये थे।